पंचदशी

निबंध-संग्रह

परिचयकार

श्री वियोगी हरि

संग्रहकार

श्री यशपाल जैन

१९५०

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : १९५०
मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली

प्रस्तावना

हमारे साहित्य का जो अंग बहुत दुर्बल दिखाई देता है, वह है उसका निबंध अंग। उपन्यास—अधिकतर अनुवादित—कहानियाँ और अब नाटक भी कुछ-कुछ संतोषजनक रूप में दिखाई पड़ने लगे हैं, किन्तु कई महत्त्वपूर्ण अंगों की भांति हमारे साहित्य का निबंध-अंग अभी क्षीण और अपुष्ट ही है। निबंध का स्थान किसी भी भाषा के साहित्य में बड़े महत्त्व का है। एक छोटी-सी सीमा के भीतर विशेष विचारों को व्यंजित, विकसित और गठित करना ऊंचे साहित्यकार का ही काम है। कला के चौखटे के अंदर विचारों को बांधना और इस तरह बांधना कि उनका विकास परिधि के बाहर दूर तक फैल जाय, सचमुच कोई आसान काम नहीं। सम्यक् ज्ञान और निर्मल कला को कठिन साधना द्वारा जीवन में उतारे बिना निबंधकार बनना कठिन व्यापार है।

हिन्दी साहित्य में शायद बालकृष्ण भट्ट के निबंधों से इस अंग की हमें बहुत धुंधली-सी झलक मिलती है। उस युग में और उसके बाद ही लगभग चार दशियों तक अनेक विषयों पर निबंध लिखे गये—भिन्न-भिन्न शैलियों में और रंग-बिरंगी भाषा में। दशकुमार चरित् तथा कादम्बरी से भी कुछ निबंधों में प्रेरणा और छाया ली गई। फिर अंग्रेजी के अनेक निबंधों का भाषान्तर हुआ। मौलिक लेखों पर भी अंग्रेजी लेखों का बहुत प्रभाव पड़ा। पहिले की वह शैली की मौलिकता धीरे-धीरे विलुप्त होने लगी और अब अन्य समुन्नत भाषाओं के साहित्य के फलस्वरूप अधिक लिखा जाने लगा। मगर कुल मिलाकर निबंध फिर भी अपेक्षाकृत कम ही लिखे गये।

जो अनेक निबंध संग्रह संकलित और प्रकाशित हुए, उनमें से कुछ तो निःसंदेह संतोषजनक ही नहीं, उच्चकोटि के हैं; किंतु अधिकांश निबंध साधारण कोटि के देखने में आए। फिर भी यह कम संतोष की बात नहीं कि इस अभाव की पूर्ति धीरे-धीरे हो तो रही है।

प्रस्तुत संग्रह में पंद्रह निबंधों का संकलन किया गया है। अनेक प्रकार के निबंध हैं इसमें—वर्णनात्मक, आध्यात्मिक, नैतिक और कलात्मक। लेखकों में गांधी जैसे संत, विनोबा जैसे साधक, हजारीप्रसाद तथा वासुदेवशरण जैसे साहित्यकार एवं शोधक हैं। भावों के साथ-साथ सरल-से-सरल शैली से लेकर गूढ़ और कला-पूर्ण शैली कई निबंधों में देखने को मिलेगी।

गांधीजी का सत्य और अहिंसा का विवेचन उनके जीवन-व्यापी प्रयोगों का सुन्दरतम अभिव्यंजन है। भाषा और शैली पर वैसी शास्त्रीय नहीं जैसी साधना और सम्यक्दर्शन की स्पष्ट छाप है। एक-एक शब्द में गांधीजी जिस तरह अपने आत्म-रस को उँडेलते थे, उस अनुपम साधना का दर्शन प्रस्तुत संग्रह के 'सत्य-अहिंसा' शीर्षक प्रथम निबंध में होता है। यहां शब्द अलंकृत शैली का आश्रय न लेकर, सहज अपने आप को शुद्ध रूप में प्रकट कर रहे हैं।

आचार्य विनोबा की भी संत शैली है। उनका निरूपण और विश्लेषण का ढंग अपना खास है। ऐसा लगता है जैसे ज्ञान-सम्पन्न क्रियाशील भक्त और गणित शास्त्री एक साथ बोल रहे हों। हिंदी में साधु विनोबा का साहित्य अधिक-से-अधिक आना ही चाहिए। विनोबा के निबंध अनुवादित होते हुए भी मौलिक रचना से किसी भी अंश में कम मूल्यवान् नहीं हैं।

पं० जवाहरलाल नेहरू का 'दो मस्जिदें' नाम का निबंध

काफी प्रसिद्ध हो चुका है। बोलचाल की मीठी जोरदार भाषा में पंडितजी ने कुस्तुन्तुनिया की एक बड़ी पुरानी नामी मस्जिद की तस्वीर इतनी सुन्दर खींची है कि देखते ही बनता है। पं० नेहरू की रचनाओं को देखने से मन आश्चर्य में डूब जाता है कि दुनिया का यह बहुत बड़ा आदमी, जो मूलतः साहित्यकार है, राजनीतिक झंझटों में जाकर क्यों उलझ गया। काश! जवाहरलाल ने अपना अधिकांश साहित्य अपनी जोरदार और जानदार हिंदी में ही लिखा होता। दुनिया, रवि बाबू के साहित्य की तरह, क्या उनके भी अनुवादों को उसी चाव से न पढ़ती?

राजेन्द्र बाबू का गांव का जीवन सचमुच सजीव है। सीधी भाषा और सादा वर्णन ऐसा ही व्यक्ति दे सकता है जिसका शरीर भले ही शहर में पड़ा हो, पर जिसका मन गांव में ही सदा रमता है, न कि वे जो मन-बहलाव या महज प्रचार के लिए "ग्रामों की ओर" यदा-कदा चले जाया करते हैं। इस लेख में हम अपने भारतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति की आत्मकथा के शुरू के पन्ने पढ़कर अपने आपको ग्रामवासियों के सुहावने आंगन में खड़ा पाते हैं।

काका कालेलकर कितने ऊँचे साहित्यकार हैं, इसकी सही कल्पना शायद हिंदी संसार को न होगी। हिंदी जगत् तो कदाचित् उन्हें राष्ट्रभाषा के एक उद्भट प्रचारक के रूप में ही जानता है। भारतीय संस्कृति के वे महान् गायक हैं और गांधीवाद के एक सरस भाष्यकार। काका कालेलकर के समग्र गुजराती साहित्य का सुन्दर हिंदी अनुवाद अवश्य होना चाहिए। संग्रह में उद्धृत उनका निबन्ध हिमालय की यात्रा का मनोरम दृश्य ही हमारे सामने उपस्थित नहीं करता, प्रत्युत् हमारी महिमामयी शुभ्र संस्कृति का संगायन भी सुनाता है।

घनश्यामदास बिड़ला का 'मुझसे सब अच्छे' यह लेख

अन्तर्निरीक्षण का एक खासा अच्छा दर्पण है। शैली में चोट करनेवाली मीठे व्यंग्य की इसमें बड़ी अच्छी पुट है।

भदंत आनन्द कौसल्यायन का 'आतिथ्य' यह बड़ा ही रोचक लेख है। भदंतजी ने अपनी सहज आकर्षक शैली और जानदार भाषा में आपबीती आतिथ्य की यह कहानी बड़ी सुन्दर लिखी है।

गांधीवाद के विचारक हरिभाऊ उपाध्याय का 'सुख का स्वरूप' शीर्षक निबन्ध यद्यपि कुछ क्लिष्ट हो गया है तथापि उसमें सुख का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं निरूपण बहुत स्पष्ट और सही हुआ है।

सियारामशरण गुप्त तथा जैनेन्द्रकुमार के 'बहस की बात' और 'राम की युद्ध-नीति' ये दोनों निबंध हमें काफी विचार-सामग्री देते हैं। इनमें बहुत-कुछ गहरा सोचने को मिलता है। तर्क और नीति का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। सियारामशरण की भाषा अकृत्रिम और आकर्षक है। जैनेन्द्रकुमार की भाषा तो उनकी अपनी है ही।

'रामा' इस निबंध में हमारी ऊंची कवयित्री श्री महादेवी ने अपने बचपन का चित्र सरल भाषा में और सरल ही शैली में खींचा है। यह उनके अतीत के चलचित्रों में से एक है। हम में से जो लोग उनकी गूढ़ कविताओं को ही पढ़ते रहते हैं, वे इस लेख की इतनी सरल शैली को देखकर शायद कुछ आश्चर्य-चकित हो जाएँ, किन्तु एक बात सामान्य है,—जो हृदय की सात्त्विक निर्मलता महादेवीजी की कविताओं के पद-पद में झलकती है, वही उनके अतीत के चलचित्रों में भी हम देखते हैं।

महान् रसज्ञ शोधक वासुदेवशरण अग्रवाल का 'धरती' नामक निबन्ध तथा हमारे साहित्य के अत्यंत उज्ज्वल रत्न हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का 'अशोक के फूल' शीर्षक निबंध इन

दोनों ने यदि इस निबंध-संग्रह में स्थान न पाया होता तो बहुत अंशों में यह अपूर्ण सा ही रहता। ये दोनों साहित्यकार हिन्दी की निःसंदेह अमर विभूतियाँ हैं। वासुदेवशरण के समक्ष भारत राष्ट्र का वह शुभ्र स्वरूप रहता है, जिसे राजनीति विकृत नहीं कर पाई। उनकी शोध लोक-हृदय के अंतर तक पहुँची है और वैदिक काल से लेकर गांधी-युग तक उन्होंने उसी सांस्कृतिक एकसूत्रता का दर्शन किया और दूसरों को कराया है।

हजारीप्रसादजी ने शान्तिनिकेतन में बैठकर जो साहित्य-साधना की है वह उनकी अनुपम देन है। उनके निबंधों में प्राणवान् शोध के साथ श्रेयस्करी कला का दिव्य-दर्शन होता है। 'अशोक के फूल' में हम अपने अतीत की खोई हुई निधि को बहुत कुछ पा लेते हैं।

भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से हमारे ये दोनों साहित्यकार बड़े समृद्ध और तेजस्वी हैं।

आचार्य अभयदेव, आध्यात्मिक साधक के साथ ही एक ऊंचे विद्वान् लेखक भी हैं। 'तरंगित हृदय' के उपनाम से आपने अनेक गवेषणापूर्ण सरस शैली में निबंध तथा गद्यकाव्य लिखे हैं। प्रस्तुत संग्रह में संकलित 'अदूरदृष्टि' शीर्षक निबंध बड़ा ही रोचक है।

और अन्त में, संकलनकर्त्ता ने भूमिका-लेखक का भी एक लेख रख दिया है—'अशर्फियों में कौड़ी मिला देने का यह उपहासास्पद प्रयत्न नहीं तो क्या है?' 'पंचदशी' यह नाम किसी अन्य लेख को संकलित करने से भी तो सार्थक हो सकता था।

हरिजन-निवास, दिल्ली
१-२-४०

वियोगी हरि

विषय-सूची

पं च द शी

सत्य और अहिंसा : १

महात्मा गांधी

२७-३-३०

प्रातःकाल की प्रार्थना के बाद

'सत्य' शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्ति, सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के सिवा दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही सत् अर्थात् सत्य है। इसलिए परमेश्वर सत्य है, यह कहने की अपेक्षा सत्य ही परमेश्वर है, कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ता के बिना, सरदार के बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा; लेकिन विचारने पर तो लगेगा कि सत या सत्य ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करनेवाला है।

सत्य के साथ शुद्ध ज्ञान होना आवश्यक है। जहां सत्य नहीं, वहां शुद्ध ज्ञान भी संभव नहीं। इसलिए ईश्वर नाम के साथ 'चित्' अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है, और जहां सत्य ज्ञान है वहां आनन्द ही होगा, शोक वहां होगा ही नहीं। चूंकि सत्य शाश्वत है, अतः आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम 'सच्चिदानन्द' इस नाम से भी पहचानते हैं।

इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास

होना चाहिए। ऐसा करना हम सीख जायं तो दूसरे सब नियम हमारे हाथ सहज ही लग जा सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जायगा। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणतः सत्य का अर्थ सच बोलनामात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने सत्य शब्द का विशाल अर्थ में प्रयोग किया है। विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को सम्पूर्णतः समझनेवाले के लिए जगत् में और कुछ जानना शेष नहीं रहता; क्योंकि हम ऊपर विचार कर आये हैं कि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाये वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनन्द तो हो ही कहां से सकता है? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना सीख जायं तो यह जानने में देर नहीं लगेगी कि कौन-सी प्रवृत्ति उचित है और कौन त्याज्य, क्या तो देखने योग्य है और क्या नहीं, क्या पढ़ने योग्य है और क्या नहीं।

पर यह पारसमणि-रूप, कामधेनु-रूप सत्य पाया कैसे जाय? इसका जवाब भगवान् ने दिया है—अभ्यास और वैराग्य से। सत्य में ही लौ लगाये रखना अभ्यास है, उसके सिवा अन्य सब वस्तुओं में आत्यंतिक उदासीनता वैराग्य है। फिर भी हम पायंगे कि एक के लिए जो सत्य है, दूसरे के लिए वह असत्य हो सकता है। इसमें घबराने की बात नहीं है। जहां शुद्ध प्रयत्न है, वहां भिन्न जान पड़नेवाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दिखाई देनेवाले पत्तों के समान हैं। परमेश्वर ही क्या हर आदमी को भिन्न दिखाई नहीं देता? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है। पर सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अतः जिसे जो सत्य लगे, तदनुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी; क्योंकि सत्य की खोज के साथ तपश्चर्या होती है अर्थात् आत्म-कष्ट-सहन की बात होती है। उसके पीछे मर मिटना होता है। अतः उसमें स्वार्थ की तो गंध तक भी

नहीं होती। ऐसी निःस्वार्थ खोज में लगा हुआ आज तक कोई अन्तपर्यंत गलत रास्ते पर नहीं गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह हरि का मार्ग है, जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं। वह तो मरकर जीने का मन्त्र है।

पर अब हम लगभग अहिंसा के किनारे आ पहुंचे हैं। उस पर अगले सप्ताह विचार करूंगा।

इस प्रसंग के साथ हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमामहसन, हुसेन, ईसाई संतों आदि के दृष्टांत विचारने योग्य हैं। चाहिए कि अगले सप्ताह तक सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते—सारे काम करते हुए यह रटन लगाये रहें। और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्न-चिंतामणि सिद्ध हुआ है। हम सबों के लिए वैसा ही सिद्ध हो।

२६-७-३०
मंगलप्रभात

: २ :

सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है, उतना ही तंग भी, खांडे की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नजर रखकर चल सकता है, सत्य और अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।

लेकिन सत्य के संपूर्ण दर्शन तो इस देह से असंभव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म

का साक्षात्कार संभव नहीं होता। अतः अन्त मे श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसीसे अहिंसा जिज्ञासु के पल्ले पड़ी। जिज्ञासु के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्ग में आनेवाले संकटों को सहे या उसके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढ़े ? उसने देखा कि नाश करते चलने पर वह आगे नहीं बढ़ता, दूर-का-दूर पर ही रह जाता है। संकट सहकर तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताता है। उससे बचने को हमने उसे दंड दिया। उस वक्त के लिए तो वह भाग गया जरूर, लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेंध लगाई। पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अतः हमने अंधेरी गली में ठोकर खाई। चोर का उपद्रव बढ़ता गया, क्योंकि उसने तो चोरी को कर्त्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यही पाते हैं कि चोर का उपद्रव सह लें, इससे चोर को समझ आयेगी। इस सहन से हम देखते हैं कि चोर कोई हमसे भिन्न नहीं है। हमारे लिए तो सब सगे हैं, मित्र हैं, उन्हें सजा देने की जरूरत नहीं है। लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है। इससे तो कायरता पैदा होती है। अतः हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-बिरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख उठाने की ही बात आती है, अटूट धैर्य-शिक्षा की बात आती है। यदि यह हो जाय तो अंत में चोर साहूकार बन जाता है। ऐसा करते हुए हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं, संकट सहते हुए भी शांति-सुख बढ़ता है, हममें साहस बढ़ता है, हम शाश्वत-अशाश्वत

का भेद अधिक समझने लगते हैं, हमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है और देह के अंदर भरा हुआ मैल दिन-प्रति-दिन कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसीको न मारना, इतना तो है ही। कुविचारमात्र हिंसा है। उतावलापन हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है, उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते हैं वह जगत के लिए आवश्यक है, जहां खड़े हैं वहां सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरों तले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है। फिर क्या आत्महत्या कर लें? तो भी निस्तार नहीं है। विचार में देह के साथ संसर्ग छोड़ दें तो अंत में देह हमें छोड़ देगी। यह मोह रहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नहीं होते। यह समझकर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमे आगे बढ़ना चाहिए।

मैं सरल चीज लिखना चाहता था, पर हो गई है कठिन। फिर भी जिसने अहिंसा का थोड़ा भी विचार किया होगा उसे समझने में कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अहिंसा के बिना सत्य की खोज असंभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं जैसे सिक्के के दोनों रुख, या चिकनी चकती के दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा? फिर भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथ की बात है, इससे अहिंसा परम धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की चिंता करते रहने पर साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्ग में चाहे जो संकट आएं, बाह्य दृष्टि से देखने पर हमारी

चाहे कितनी ही हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए—सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्यस्वरूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है वह हमें इसके पालन का बल दे!

त्याग और दान : २

आचार्य विनोबा

एक आदमी ने भलेपन से पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख-चैन से चलाता है। बाल-बच्चों का उसे मोह है, देह की ममता है। स्वभावतः ही पैसे पर उसका जोर है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानी से बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च जमा के अन्दर है और उससे 'पूंजी' कुछ बढ़ी ही है, उसे खुशी होती है। बड़े ठाट से और उतने ही भक्ति-भाव से वह लक्ष्मीजी की पूजा करता है। उसे द्रव्य का लोभ है, फिर भी नाम का कहिये या परोपकार का कहिये, उसे खासा खयाल है। उसे विश्वास है कि दान-धर्म के लिए—इसीमें देश को भी ले लीजिये—खर्च किया हुआ धन ब्याज-समेत वापस मिल जाता है। इसलिए इस काम से वह खुले हाथों खर्च करता है। अपने आस-पास के गरीबों को उसका इस तरह बड़ा सहारा लगता है जिस तरह छोटे बच्चों को अपनी मां का।

दूसरे एक आदमी ने इसी तरह सचाई से पैसा कमाया था; लेकिन इसमें उसे संतोष न होता था। उसने एक बार बाग के लिए कुआं खुदवाया। कुआं बहुत गहरा था। उसमें से थोड़ी मिट्टी, कुछ छर्री और बहुत पत्थर निकले। कुआं जितना गहरा गया, इन चीजों का ढेर भी उतना ही ऊंचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा,

"मेरी तिजोरी में भी पैसे का ऐसा ही एक टीला लगा हुआ है, उसी अनुपात से किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया होगा ?" विचार का धक्का बिजली जैसा होता है। इतने विचार से ही वह हड़बड़ाकर सचेत हो गया। वह कुआं तो उसका गुरु बन गया। कुएं से उसे जो कसौटी मिली उस पर उसने अपनी सचाई को घिसकर देखा; वह खरी नहीं उतरती, ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचार ने उस पर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यावहारिक सचाई' की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालू की बुनियाद पर मेरा मकान कबतक टिक सकेगा ? अंत में पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियों में उसे कोई फर्क नहीं दिखाई दिया। यह सोचकर कि फजूल का कूड़ा-कचरा भरकर रखने से क्या लाभ, वह एक दिन सवेरे उठा और अपनी सारी सम्पत्ति गधे पर लादकर गंगा-किनारे ले गया। "मां, मेरा पाप धो डाल !" इतना कहकर उसने वह कमाई गंगामाता के आंचल में उंडेल दी और बेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उससे कोई-कोई पूछते हैं, "दान ही क्यों न कर दिया ?" वह जवाब देता है, "दान करते समय 'पात्र' तो देखना पड़ता है। अपात्र को दान देने से धर्म के बदले अधर्म होने का डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगा का 'पात्र' मिल गया, उसमें मैंने दान कर दिया।" इससे भी संक्षेप में वह इतना ही कहता है, "कूड़े-कचरे का भी कहीं दान किया जाता है ?" उसका अन्तिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके सम्पत्ति-त्याग से उसके सब 'सगों' ने उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दान की है, दूसरी त्याग की। आज के जमाने में पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारों ने भी दान की महिमा कलियुग के लिए कही है। 'कलियुग' मानी क्या ? कलियुग मानी दिल की कमजोरी। दुर्बल हृदय द्रव्य के लोभ को पूरी तरह

नहीं छोड़ सकता। इसलिए उसके मन की उड़ान अधिक-से-अधिक दान तक ही हो सकती है। त्याग तक तो उसकी पहुंच ही नहीं हो सकती। लोभी मन को तो त्याग का नाम सुनते ही जाने कैसा लगता है। इसलिए उसके सामने शास्त्रकारों ने दान के ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिलकुल जड़ पर ही आघात करनेवाला है। दान ऊपर-ही-ऊपर से कोंपलें खोंटने जैसा है। त्याग पीने की दवा है, दान सिर पर लगाने की सोंठ है। त्याग में अन्याय के प्रति चिढ़ है, दान में नाम का लिहाज है। त्याग से पाप का मूलधन चुकता है और दान से पाप का ब्याज। त्याग का स्वभाव दयालु है, दान का ममतामय। धर्म दोनों ही पूर्ण हैं। त्याग का निवास धर्म के शिखर पर है, दान का उसकी तलहटी मे।

पुराने जमाने मे आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे। कोई किसी के अधीन न था। एक बार आदमी को एक जल्दी का काम आ पड़ा। उसने थोड़ी देर के लिए घोड़े से उसकी पीठ किराये पर मांगी। घोड़े ने भी पड़ोसी के धर्म को सोचकर आदमी का कहना स्वीकार कर लिया। आदमी ने कहा, "लेकिन तेरी पीठ पर मैं यों नहीं बैठ सकता। तू लगाम लगाने देगा तभी मैं बैठ सकूंगा।"

लगाम लगाकर मनुष्य उस पर सवार हो गया और घोड़े ने भी थोड़े समय में उसका काम बजा दिया। अब करार के मुताबिक घोड़े की पीठ खाली करनी चाहिए थी, पर आदमी से लोभ न छूटता था। वह कहता है, "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोड़ी नहीं जाती। इसलिए इतनी बात तू माफ कर। हां, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूंगा। इसके बदले में मैं तेरी खिदमत करूंगा, तेरे लिए घुड़साल बनाऊंगा, तुझे दाना-घास दूंगा, पानी पिलाऊंगा, खरहरा करूंगा, जो कहेगा वह करूंगा; पर छोड़ने की बात मुझसे न कहना।" घोड़ा बेचारा कर ही क्या

सकता था ? जोर से हिनहिनाकर उसने अपनी फरियाद भगवान् के दरबार में पेश की। घोड़ा त्याग चाहता था, आदमी दान की बातें कर रहा था। भले आदमी, कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे !

दो मस्जिदें : ३

जवाहरलाल नेहरू

आजकल अखबारों में लाहौर की शहीदगंज मस्जिद की प्रतिदिन कुछ-न-कुछ चर्चा होती है। शहर में काफी खलबली मची हुई है। दोनों तरफ मजहबी जोश दीखता है। एक-दूसरे पर हमले होते हैं, एक-दूसरे की बदनीयती की शिकायतें होती हैं और बीच में एक पंच की तरह अंग्रेज हकूमत अपनी ताकत दिखलाती है। मुझे न तो वाकयात ही ठीक-ठीक मालूम हैं कि किसने यह सिलसिला पहले छेड़ा था, या किसकी गलती थी और न इसकी जांच करने की मेरी कोई इच्छा ही है। इस तरह के धार्मिक जोश में मुझे बहुत दिलचस्पी भी नहीं है, लेकिन दिलचस्पी हो या न हो, पर जब वह दुर्भाग्य से पैदा हो जाय तो उसका सामना करना ही पड़ता है। मैं सोचता था कि हम लोग इस देश मे कितने पिछड़े हुए हैं कि अदना-सी बातों पर जान देने को उतारू हो जाते हैं, पर अपनी गुलामी और फ़ाकेमस्ती सहने को तैयार रहते हैं।

इस मस्जिद से मेरा ध्यान भटककर दूसरी मस्जिद की तरफ जा पहुंचा। वह एक बहुत प्रसिद्ध ऐतिहासिक मस्जिद है और करीब चौदह सौ वर्ष से उसकी तरफ लाखों-करोड़ों निगाहें देखती आई हैं। वह इस्लाम से भी पुरानी है और उसने अपनी इस लम्बी जिन्दगी में न जाने कितनी बातें देखी हैं। उसके सामने बड़े-बड़े साम्राज्य गिरे, पुरानी सल्तनतों का नाश हुआ, धार्मिक परिवर्तन हुए। खामोशी से उसने यह सब देखा और हर क्रान्ति और तबादले पर उसने अपनी भी पोशाक बदली। चौदह सौ वर्ष के तूफान को इस आलीशान

इमारत ने बर्दाश्त किया, बारिश ने उसको धोया, हवा ने अपने बाजुओं से उसको रगड़ा, मिट्टी ने उसके बाज़ हिस्सों को ढंका, बुजुर्गी और शान उसके एक-एक पत्थर से टपकती है। मालूम होता है, उसकी रग-रग और रेशे-रेशे में दुनियाभर का तजरबा इस डेढ़ हजार वर्ष ने भर दिया है। इतने लम्बे जमाने तक प्रकृति के खेलों और तूफानों को बर्दाश्त करना कठिन था; लेकिन उससे भी अधिक कठिन था मनुष्यों की हिमाकतों और वहशतों को सहना। पर उसने यह सहा। उसके पत्थरों की खामोश निगाहों के सामने साम्राज्य खड़े हुए और गिरे। मजहब उठे और बैठे, बड़े-बड़े बादशाह, खूबसूरत-से-खूबसूरत औरतें, लायक से-लायक आदमी चमके और फिर अपना रास्ता नापकर गायब हो गए। हर तरह की वीरता उन पत्थरों ने देखी और देखी हर प्रकार की नीचता और कमीनापन। बड़े और छोटे, अच्छे और बुरे, सब आये और चल बसे, लेकिन वे पत्थर अभी कायम हैं। क्या सोचते होंगे वे पत्थर, जब वे आज भी अपनी ऊंचाई से मनुष्यों की भीड़ों को देखते होंगे—उनके बच्चों का खेल, उनके बड़ों की लड़ाई, फरेब और बेवकूफी? हजारों वर्षों में इन्होंने कितना कम सीखा! कितने दिन और लगेंगे कि इनको अक्ल और समझ आये?

समुद्र की एक पतली-सी बांह एशिया और यूरोप को वहां अलग करती है—एक चौड़ी नदी की भांति बासफोरस बहता है और दो दुनियाओं को जुदा करता है। उसके यूरोपियन किनारे की छोटी-छोटी पहाड़ियों पर बाइज़ेन्टियम की पुरानी बस्ती थी। बहुत दिनों से वह रोमन साम्राज्य में थी, जिसकी पूर्वी सरहद ईसा की शुरू की शताब्दियों में ईराक तक थी, लेकिन पूरब की ओर से इस साम्राज्य पर अकसर हमले होते थे। रोम की शक्ति कुछ कम हो रही थी और वह दूर-दूर की सरहदों की ठीक तरह रक्षा नहीं कर सकता था। कभी पश्चिम और उत्तर में जर्मन वहशी (जैसा कि रोमन लोग उन्हें कहते थे) चढ़ आते थे और उनका हटाना मुश्किल हो जाता तो कभी पूरब

में ईराक की तरफ से या अरब से एशियाई लोग हमले करते और रोमन फौजों को हरा देते थे।

रोम के सम्राट् कान्सटेंटाइन ने यह फैसला किया कि अपनी राजधानी पूरब की ओर ले जाय, ताकि वह पूर्वी हमलों से साम्राज्य की रक्षा कर सके। उसने बासफोरस के सुन्दर तट को चुना और बाइ-जेन्टियम की छोटी पहाड़ियों पर एक विशाल नगर की स्थापना की। ईसा की चौथी सदी खतम होने वाली थी, जब कान्सटेन्टिनोपल (कुस्तुन्तुनिया) का जन्म हुआ। इस नवीन प्रबन्ध से रोमन साम्राज्य पूरब में जरूर मजबूत हो गया, लेकिन अब पश्चिमी सरहद और भी दूर पड़ गई। कुछ दिन बाद रोमन साम्राज्य के दो टुकड़े हो गए, एक पश्चिमी साम्राज्य और दूसरा पूर्वी साम्राज्य। कुछ वर्ष बाद पश्चिमी साम्राज्य को उसके दुश्मनों ने खत्म कर दिया, लेकिन पूर्वी साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक और कायम रहा और बाइजेन्टाइन के नाम से प्रसिद्ध रहा।

सम्राट् कान्सटेंटाइन ने केवल राजधानी ही नहीं बदली, बल्कि उससे भी बड़ा एक परिवर्तन किया। उसने ईसाई धर्म स्वीकार किया। उसके पहले ईसाइयों पर रोम में बहुत सख्तियां होती थीं। उनमें से जो रोम के देवताओं को नहीं पूजता था या सम्राट् की मूर्ति का पूजन नहीं करता था, उसको मौत की सजा मिल सकती थी। अक्सर उसे मैदान में भूखे शेरों के सामने फेंक दिया जाता था। यह रोम की जनता का एक बहुत प्रिय तमाशा था। रोम में ईसाई होना एक बहुत खतरे की बात थी। वे बागी समझे जाते थे। अब एकाएक जमीन-आसमान का फर्क हो गया। सम्राट् स्वयं ईसाई हो गया और ईसाई धर्म सबसे अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। अब बेचारे पुराने देवताओं को पूजनेवाले मुश्किल में पड़ गये और बाद के सम्राटों ने तो उनको बहुत सताया। केवल एक सम्राट् फिर ऐसा हुआ (जूलि-यन), जो ईसाई धर्म को तिलांजलि देकर फिर देवताओं का उपासक

बन गया; परन्तु तब ईसाई धर्म बहुत जोर पकड़ चुका था, इसलिए बेचारे रोम और ग्रीस के प्राचीन देवताओं को जंगल की शरण ले लेनी पड़ी और वहां से भी वे धीरे-धीरे गायब हो गए।

इस पूर्वी रोमन साम्राज्य के केन्द्र कुस्तुन्तुनिया में सम्राटों की आज्ञा से बड़ी-बड़ी इमारतें बनीं और बहुत जल्दी वह एक विशाल नगर हो गया। उस समय यूरोप में कोई भी दूसरा शहर उसका मुकाबला नहीं कर सकता था। रोम भी बिलकुल पिछड़ गया था। वहां की इमारतें एक नई तर्ज की बनीं, एक नई भवन बनाने की कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें मेहराब, गुम्बज, बुर्जियां, खम्भे इत्यादि अपनी तर्ज के थे और जिसके अन्दर खम्भों वगैरा पर बारीक मोजाइक (पच्चीकारी) का काम होता था। यह इमारती बाइजेन्टाइन कला के नाम से प्रसिद्ध है। छठी सदी में कुस्तुन्तुनिया में एक आलीशान कैथीड्रल (बड़ा गिरजाघर) इस कला का बनाया गया, जो सैंक्टा सोफिया या सेंट सोफिया के नाम से मशहूर हुआ।

पूर्वी रोमन साम्राज्य का यह सबसे बड़ा गिरजा था और सम्राटों की यह इच्छा थी कि वह बेमिसाल बने और अपनी शान और ऊंचे दर्जे की कला में साम्राज्य के योग्य हो। उनकी इच्छा पूरी हुई और यह गिरजा अबतक बाइजेन्टाइन कला की सबसे बड़ी फतह समझा जाता है। बाद में ईसाई धर्म के दो टुकड़े हुए (हुए तो कई, लेकिन दो बड़े टुकड़ों का जिक्र है) और रोम और कुस्तुन्तुनिया में धार्मिक लड़ाई हुई। वे एक दूसरे से अलग हो गए। रोम का बिशप (बड़ा पादरी) पोप हो गया और यूरोप के पश्चिमी देशों में बड़ा माना जाने लगा। लेकिन पूर्वी रोमन साम्राज्य ने उसको नहीं माना और वहां का ईसाई फिरका अलग हो गया। फिरका आर्थोडाक्स चर्च कहलाने लगा था, क्योंकि वहां की बोली ग्रीक हो गई थी। यह आर्थोडाक्स चर्च रूस और उसके आस-पास भी फैला था।

सेण्ट सोफिया का केथीड्रल ग्रीक चर्च (धर्म) का केन्द्र था

और नौ सौ वर्ष तक ऐसा ही रहा। बीच में एक दफा रोम के पक्षपाती ईसाई (जो आये थे मुसलमानों से क्रूसेड्स—जेहाद—लड़ने) कुस्तुन्तुनिया पर टूट पड़े और उस पर उन्होंने कब्जा भी कर लिया; लेकिन वे जल्दी ही निकाल दिये गए।

आखिर में जब पूर्वी रोमन साम्राज्य एक हजार वर्ष से अधिक चल चुका था और सेण्ट सोफिया की अवस्था भी लगभग नौ सौ वर्ष की हो रही थी तब एक नया हमला हुआ, जिसने उस पुराने साम्राज्य का अन्त कर दिया। पन्द्रहवीं सदी में उस्मानी तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर फतह पाई। नतीजा यह हुआ कि वहां का जो सबसे बड़ा ईसाई केथीड्रेल था, वह अब सबसे बड़ी मस्जिद हो गई। सेंट सोफिया का नाम 'आया सुफीया' हो गया। उसकी यह नई जिन्दगी भी लम्बी निकली—सैकड़ों वर्षों की। एक तरह से वह आलीशान मस्जिद एक ऐसी निशानी बन गई, जिस पर दूर-दूर से निगाहें आकर टकराती थीं और बड़े मनसूबे गांठती थीं। उन्नीसवीं सदी में तुर्की साम्राज्य कमज़ोर हो रहा था। रूस इतना बड़ा देश होते हुए भी एक बन्द देश था। उसके साम्राज्य भर में कोई ऐसा खुला बन्दरगाह नहीं था, जो सर्दियों में बर्फ से खाली रहे और काम आ सके। इसलिए वह कुस्तुन्तुनिया की ओर लोभ-भरी दृष्टि से देखता था। इससे भी अधिक आकर्षण आध्यात्मिक और सांस्कृतिक था। रूस के जार (सम्राट) अपने को पूर्वीय रोमन सम्राटों के वारिस समझते थे और उनकी पुरानी राजधानी को अपने कब्जे में लाना चाहते थे। दोनों का मजहब वही आर्थोडाक्स ग्रीक चर्च था, जिसका नामी गिरजा सेंट सोफिया था। रूस को यह असह्य था कि उसके धर्म का सबसे पुराना और प्रतिष्ठित गिरजा मस्जिद बना रहे। उसके ऊपर जो इस्लाम की निशानी हिलाल या अर्द्धचन्द्र था, उसके बजाय ग्रीक क्रास होना चाहिए।

धीरे-धीरे उन्नीसवीं सदी में जारों का रूस कुस्तुन्तुनिया की ओर बढ़ता गया। जब करीब आने लगा तब यूरोप की और शक्तियां

घबराईं। इंग्लैंड और फ्रांस ने रुकावटें डालीं, लड़ाई हुई, अब कुछ रुका; लेकिन फिर वही कोशिश जारी हो गई, फिर वही राजनैतिक पेंच चलने लगे। आखिरकार सन् १९१४ की बड़ी लड़ाई आरंभ हुई और उसमें इंग्लैंड, फ्रांस, रूस और इटली में खुफिया समझौते हुए। दुनिया के सामने तो ऊंचे सिद्धान्त रखे गए आजादी के और छोटे देशों की स्वतन्त्रता के; लेकिन पर्दे के पीछे गिद्धों की तरह लाश के इन्तजार में उसके बंटवारे में मनसूबे निश्चित किये गए।

पर ये मनसूबे भी पूरे नहीं हुए। उस लाश के मिलने के पहले जारों का रूस ही खत्म होगया। वहां क्रान्ति हुई और हकूमत और समाज दोनों का ही उलट-फेर हो गया। बोलशेविकों ने तमाम पुराने खुफिया समझौते प्रकाशित कर दिये, यह दिखाने को कि ये यूरोप की बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियां कितनी धोखेबाज हैं। साथ ही इस बात की घोषणा की कि वे (बोलशेविक) साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं और किसी दूसरे देश पर अपना अधिकार जमाना नहीं चाहते। हरेक जाति को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है।

यह सफाई और नेकनीयती पश्चिम की विजयी शक्तियों को पसन्द नहीं आई। उनकी राय में खुफिया सन्धियों का ढिंढोरा पीटना शराफत की निशानी नहीं थी। खैर, अगर रूस की नई हकूमत नालायक है तो कोई वजह न थी कि वे अपने अच्छे शिकार से हाथ धो बैठें। उन्होंने, खासकर अंग्रेजों ने, कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा किया। ४८६ वर्ष बाद इस पुराने शहर की हकूमत इस्लामी हाथों से निकल कर फिर ईसाई हाथों में आई। सुलतान खलीफा जरूर मौजूद थे, लेकिन वह एक गुड्डे की भांति थे। जिधर मोड़ दिये जायं, उधर ही घूम जाते थे। आया सुफीया भी हस्बमामूल खड़ी थी और मस्जिद थी, लेकिन उसकी वह शान कहां, जो आजाद वक्त में थी, जब स्वयं सुलतान उसमें जुमे की नमाज पढ़ने जाते थे।

सुलतान ने सिर झुकाया, खलीफा ने गुलामी तसलीम की, लेकिन चन्द तुर्क ऐसे थे, जिनको यह स्वीकार न था। उसमें से एक मुस्तफा कमाल था, जिसने गुलामी से बगावत को बेहतर समझा।

इस अर्से में कुस्तुन्तुनिया के एक और वारिस और हकदार पैदा हुए—ये ग्रीक लोग थे। लड़ाई के बाद ग्रीस को मुफ्त में बहुत-सी जमीन मिली और वह पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्वप्न देखने लगा। अभी तक रूस रास्ते में था और तुर्की तो मौजूद ही था। अब रूस मुकाबले से हट गया और तुर्क लोग हारे हुए परेशान पड़े थे। रास्ता साफ मालूम होता था। इंग्लैंड और फ्रांस के बड़े आदमियों को भी राजी कर लिया गया, फिर दिक्कत क्या?

लेकिन एक बड़ी कठिनाई थी। वह कठिनाई थी मुस्तफा कमाल-पाशा। उसने ग्रीक हमले का मुकाबला किया और अपने देश से ग्रीक फौजों को बुरी तरह हराकर निकाल दिया। उसने सुलतान खलीफा को, जिसने अपने मुल्क के दुश्मनों का साथ दिया था, एक गद्दार कहकर निकाल दिया। उसने मुल्क से सल्तनत और खिलाफत दोनों का सिलसिला ही मिटा दिया। उसने अपने गिरे और थके हुए मुल्क को हजार कठिनाइयों और दुश्मनों के सामने खड़ा किया और उसमें फिर नई जान फूंक दी। उसने सबसे बड़े परिवर्तन धार्मिक और सामाजिक किये। स्त्रियों को परदे से बाहर खींचकर जाति में सबसे आगे रखा। उसने धर्म के नाम पर कट्टरपन को दबा दिया और सिर नहीं उठाने दिया। उसने सबमें नई तालीम फैलाई—हजार वर्ष पुराने रिवाजों और तरीकों को खत्म किया।

पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया को भी उसने इस पदवी से उतार दिया। डेढ हजार वर्ष से वह दो बड़े साम्राज्यों की राजधानी रही थी। अब राजधानी एशिया में अंकारा नगर हो गया—एक छोटा-सा शहर; लेकिन तुर्की की नई शक्ति का एक नमूना। कुस्तुन्तुनिया नाम भी बदल गया—वह इस्ताम्बूल हो गया।

और आया सुफीया ? उसका क्या इशर हुआ ? वह चौदह सौ वर्ष की इमारत इस्ताम्बूल में खड़ी है। और जिन्दगी के ऊंच-नीच को देखती जाती है। नौ सौ वर्ष तक उसने ग्रीक धार्मिक गाने सुने और अनेक सुगन्धियों को, जो ग्रीक पूजा में रहती हैं, सूंघा। फिर चार सौ अस्सी वर्ष तक अरबी अजान की आवाज उसके कानों में आई और नमाज पढ़नेवालों की कतारें उसके पत्थरों पर खड़ी हुईं।

और अब ?

एक दिन, कुछ महीनों की बात है—इसी साल १९३५ में—गाजी मुस्तफा कमालपाशा (जिनको अब खास खिताब और नाम अतातुर्क का दिया गया है) के हुक्म से आया सुफीया मस्जिद नहीं रही। बगैर किसी धूमधाम के वहांके होजा लोग (मुस्लिम मुल्ला वगैरह) हटा दिये गए और अन्य मस्जिदों में भेज दिये गए। अब यह तय हुआ कि आया सुफीया बजाय मस्जिद के म्यूजियम (संग्रहालय) हो—खासकर बाइजेन्टाइन कलाओं का। बाइजेन्टाइन जमाना तुर्कों के आने के पहले का ईसाई जमाना था। तुर्कों ने कुस्तुन्तुनिया पर कब्जा १४५२ ई० में किया था। उस समय से समझा जाता है कि बाइजेन्टाइन कला खत्म हो गई। इसलिए अब आया सुफीया एक प्रकार से फिर ईसाई जमाने को वापस चली गई—मुस्तफा कमाल के हुक्म से।

आजकल वहां जोरों से खुदाई हो रही है। जहां-जहां मिट्टी जम गई थी, हटाई जा रही है और पुराने मोजाइक्स निकल रहे हैं। बाइजेन्टाइन कला के जाननेवाले अमेरिका और जर्मनी से बुलाये गए हैं, और उन्हींकी निगरानी में काम हो रहा है। फाटक पर संग्रहालय की तख्ती लटकती है और दरबान बैठा है। उसको आप अपना छाता-छड़ी दीजिए, उसका टिकट लीजिए और अन्दर जाकर इस प्रसिद्ध पुरानी कला के नमूने देखिए। और देखते-देखते इस संसार के विचित्र इतिहास पर विचार कीजिए, अपने दिमाग को हजारों वर्ष आगे-पीछे दौड़ाइए।

क्या-क्या तस्वीरें, क्या-क्या तमाशे, क्या-क्या ज़ुल्म, क्या-क्या अत्याचार आपके सामने आते हैं। उन दीवारों से कहिए कि वे आपको अपनी कहानी सुनावें, अपने तजरबे आपको दे दें। शायद कल और परसों जो गुजर गए, उन पर गौर करने से हम आज को समझें, शायद भविष्य के परदे को भी हटाकर हम झांक सकें।

लेकिन वे पत्थर और दीवारें खामोश हैं। उन्होंने इतवार की ईसाई पूजा बहुत देखीं और बहुत देखीं जुमे की नमाजें। अब हर दिन की नुमाइश है उनके साये में। दुनिया बदलती रही, लेकिन वे कायम हैं। उनके घिसे हुए चेहरे पर कुछ हलकी मुस्कराहट-सी मालूम होती है और धीमी आवाज-सी कानों में आती है—"इन्सान भी कितना बेवकूफ और जाहिल है कि वह हजारों वर्ष के तजरबे से नहीं सीखता और बार-बार वही हिमाकतें करता जाता है।"

अगस्त १९३५

गांव का जीवन : ४

राजेन्द्रप्रसाद

उन दिनों गांव का जीवन आज से भी कहीं अधिक सादा था। जीरादेई और जमापुर दो गांव हैं, पर दोनों की बस्ती इस प्रकार मिली-जुली है कि यह कहना मुश्किल है कि कहां जीरादेई खतम है और कहां से जमापुर शुरू है। इसलिए आबादी के लिहाज से दोनों गांवों को साथ भी लिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। दोनों गांवों में प्रायः सभी जातियों के लोग बसते हैं। आबादी दो हजार से अधिक होगी। उन दिनो भी गांव में मिलनेवाली प्राय: सभी चीजें वहां मिलती थी। अब तो कुछ नये प्रकार की दूकानें भी हो गई हैं, जिनमें पान-बीड़ी भी बिकती हैं। उन दिनों ऐसी चीजें नहीं मिलती थीं, यद्यपि काला तम्बाकू और खैनी बिका करती थी। कपड़े की दूकानें अच्छी थीं, जहांसे दूसरे गांवों के लोग और कुछ बाहर के व्यापारी भी कपड़े ले जाया करते थे। चावल, दाल, आटा, मसाला, नमक, तेल इत्यादि वहां सब कुछ बिकता था और छोटी-मोटी दुकान दवा की भी थी, जिसमे हर्रे, बहेरा, पीपर इत्यादि की तरह की चीजें मिल सकती थीं। जहां तक मुझे याद है, केवल मिठाई की कोई दूकान नहीं थी। गांव में कोयरी लोगों की काफी बस्ती है, इसलिए साग-सब्जी भी काफी मिलती थी। अहीर कम थे, पर आसपास के गांवों में उनकी काफी आबादी है, इसलिए दही-दूध भी मिलते थे। चर्खे काफी चलते थे। गांव में जुलाहों की भी आबादी

थी, जो सूत लेकर बुन दिया करते थे। चुड़िहार चूड़ियां बना लेते। बिसाती छोटी-मोटी चीजें, जैसे टिकुली इत्यादि, बाहर से लाकर बेचते और कुछ खुद भी बनाते। मुसलमानों में चुड़िहार, बिसाती, थवई (राज), दर्जी और जुलाहे ही थे। कोई शेख-सैयद नहीं रहता था। हिन्दुओं में ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, कोयरी, कुरमी, कमकर, तुरहा, गोंड, डोम, चमार, दुसाध इत्यादि सभी जाति के लोग बसते थे। मेरा खयाल है कि सबसे अधिक बस्ती राजपूतों की ही है। उनमें कुछ तो जमींदार वर्ग के हैं, जो पुराने खानदानी समझे जाते हैं और कुछ मामूली किसान-वर्ग के हैं। कायस्थ जीरादेई में ही पांच घर थे, जिनमें तीन तो हमारे सगे थे और दो सम्बन्ध के कारण बाहर से आकर बस गये थे।

सब कुछ प्रायः गांव में ही मिल जाता था। इसलिए गांव के बाहर जाने का लोगों को बहुत कम मौका आता था। गांव में हफ्ते में दो बार बाजार भी लगता था, जहां कुछ आस-पास के गांव के दूकान-दार भी अपना-अपना माल-सौदा सिर पर अथवा बैल, घोड़ा या बैलगाड़ी पर लादकर लाते थे। बाजार में मिठाई की दूकान भी आ जाती थी और जो चाहते उनको मछली-मांस भी खरीदने को मिल जाते। जिनकी जरूरतें इस प्रकार पूरी नहीं होतीं, वे सीवान जाते। वहीं थाना और मजिस्ट्रेट है—कचहरियां हैं और दूकानें भी हैं। वह एक कस्बा है, जो देहात के लोगों के लिए उन दिनों बहुत बड़ी जगह का रुतबा रखता था। मुझे याद है कि गांव में बाहर से सगे सम्बन्धियों के सिवा बहुत कम लोग आया करते थे। मौलवी साहब के यहां दो-चार महीने में एक बार एक आदमी फारसी की छोटी-मोटी किताबों की एक छोटी गठरी और एक-दो बोतलों में सियाही (आजकल की ब्लू ब्लैक रोशनाई नहीं) लिये आ जाता था। जब यह आता तो हम बच्चों के कौतूहल का ठिकाना न रहता। कभी-कभी जाड़ों में कोई नारंगी-नीबू की टोकरी लिये बेचने आ जाता तो हम बच्चे इतना खुश

होते कि मानों कुछ नायाब मिल गया। एक दिन ऐसा ही एक आदमी आया और मैं दौड़कर मां से कहने गया। वहांसे दौड़कर जो बाहर आ रहा था कि पैर में जोर से किसी चीज की ठोकर लगी, गिर गया। ओठ में चोट आई और खून बहने लगा। बहुत दिनों तक उसका चिह्न था। एक बार और किसी चीज के लिए दौड़ता हुआ गिर गया था। उसका निशान तो आज तक दाहिनी आंख के नीचे गाल पर मौजूद है। गांव में फल—आम के दिनों मे आम और मामूली तरह से कभी-कभी बाग से केले—मिल जाते थे। चचा साहब, जिनको हम लोग नूनू कहा करते थे, छपरे से कभी-कभी अंगूर लाया करते थे। अंगूर आज की तरह खुलेआम गुच्छों में नहीं बिका करते थे, काठ की छोटी पेटी में रुई के फाहे के बीच मे रखकर बिकते थे और दाम भी काफी लगता था। गांव के लोग केवल आम और केले ही मौसम मे पाते थे।

गांव मे दो छोटे-मोटे मठ हैं, जिनमे एक-एक साधु रहा करते थे। गांव के लोग उनको भोजन देते हैं और वह सुबह-शाम घड़ी-घंटा बजा कर आरती करते हैं। आरती के समय कुछ लोग जुट भी जाते हैं। कभी-कभी हम लोग भी जाया करते थे और बाबाजी तुलसीदल का प्रसाद दिया करते थे। रामनौमी और विशेषकर जन्माष्टमी में मठ में तैयारी होती थी। हम सब बच्चे कागज और पन्नी के फूल काटकर ठाकुरबारी के दरवाजों और सिंहासन पर साटते थे और उत्सव मे शरीक होते थे, व्रत रखते थे और दधिकांदो के दिन खूब दही-हल्दी एक दूसरे पर डालते थे। प्राय: हर साल कार्तिक मे कोई-न-कोई पंडित आ जाते थे, जो एक-डेढ़ महीना रहकर रामायण, भागवत अथवा किसी दूसरे पुराण की कथा सुनाते थे। जिस दिन पूर्णाहुति होती थी, उस दिन गांव के सब लोग इकट्ठे होते और कुछ न कुछ पूजा चढ़ाते। मेरे घर से अधिक पूजा चढ़ती, क्योंकि हम सबसे बड़े समझे जाते थे। अक्सर कथा तो मेरे ही दरवाजे पर हुआ करती थी। उसका सारा खर्च हमको ही देना पड़ता था। जब गांव में पंचायती कथा होती तब गांव

भर के लोग बारी-बारी से पंडित के भोजन का सामान पहुंचाते, उसमें मेरा घर भी शामिल रहता। हम बच्चे तो शायद ही कथा का कुछ ज्यादा अंश सुन पाते हों, क्योंकि मैं तो संझौत के बाद ही सो जाता; पर जब आरती होती तो लोग जगाते और प्रसादी खिला देते।

मनोरंजन और शिक्षा का एक दूसरा साधन रामलीला थी। वह आसिन में हुआ करती थी। रामलीला करनेवाली जमात कहीं से आ जाती और पन्द्रह-बीस दिनों तक खूब चहल-पहल रहती। लीला कभी जमापुर में होती, कभी जीरादेई में। लीला भी बड़ी विचित्र होती। उसमें राम-लक्ष्मण इत्यादि जो बनते, कुछ पढ़े-लिखे नहीं होते। एक आदमी तुलसी की रामायण हाथ में लेकर कहता—"रामजी कहीं, हे सीता"—इत्यादि और रामजी वह दुहराते। इसी प्रकार, जिनको जो कुछ कहना होता, उनको बताया जाता और वह पीछे-पीछे उसे दुहराये जाते। लोगों का मनोरंजन इस वार्त्तालाप से अधिक नहीं होता, क्योंकि भीड़ बड़ी लगती और सब कारबार प्रायः १००-२०० गज मे फैला रहता। मनोरंजन तो पात्रों की दौड़-धूप और विशेषकर लड़ाई इत्यादि के नाट्य में ही होता। उत्तर में रामजी का गढ और दक्खिन में रावण का गढ़ बनता अथवा अयोध्या और जनकपुर बनता। जिस दिन जो कथा पड़ती, उसका कुछ-न-कुछ स्वांग तो होता ही। सबसे बड़ी तैयारी राम-विवाह, लंकाकांड के युद्ध और रामजी के अभिषेक—गद्दी पर बैठने के दिन—होती। विवाह मे तो हाथी-घोड़े मंगाये जाते और बरात की पूरी सजावट होती। लंकादहन के लिए छोटे-मोटे मकान भी बना दिये जाते जो सचमुच जला दिये जाते। हनुमान-बानर और निशाचरों के अलग-अलग चेहरे होते, जो उनको समय पर पहनने पड़ते और हम बच्चों को वे सचमुच डरावने लगते। बानरों के कपड़े अक्सर लाल होते और निशाचरों के काले। राम-लक्ष्मण-जानकी के विशेष कपड़े होते और उनके सिंगार में प्रायः

डेढ़-दो घण्टे लग जाते। लीला संध्या समय ४ बजे से ६ बजे तक होती। राम-लछमण मामूली लोगों की तरह नहीं चलते। उनके कदम बहुत ऊंचे उठते और लड़ाई में पैंतरे देने की तो उनको खास तालीम दी जाती थी। जिस दिन राजगद्दी होती उसी दिन गांव-जवार के लोग पूजा चढ़ाते, जो नजर के रूप मे रामजी के चरणों में चढ़ाई जाती। लीला वालों को भोजन के अलावा नगद जो मिलना होता, उसी दिन मिलता। दूसरे दिन फिर राम-लछमण-जानकी को शृंगार करके बड़े-बड़े लोगों के घरों में ले जाते, जहांकी स्त्रियां परदे के कारण भीड़-भाड़ मे लीला देखने नही जाया करतीं। वहां उनकी पूजा होती और उनपर रुपये चढाये जाते।

एक चीज,जिसका असर मुझ पर बचपन से ही पड़ा है, रामायण-पाठ है। गांव में अक्षर-ज्ञान तो थोड़े ही लोगों को था। उन दिनों एक भी प्राइमरी या दूसरे प्रकार का स्कूल उस गांव अथवा कहीं जवार-भर मे नहीं था। मौलवी साहब इन लोगों को तीन-चार रुपये मासिक और भोजन पाकर पढ़ाते थे। गांव में एक दूसरे मुसलमान थे, जो जाति के जुलाहा थे, मगर कैथी लिखना जानते थे। मुडकट्टी हिसाब भी जानते थे, जिसमें पहाड़ा, ड्योढ़ा इत्यादि मन-सेर की बिकरी और खेत की पैमाइश का हिसाब शामिल है। उन्होंने एक पाठशाला खोल रखी थी, जिसमे गांव के कुछ लड़के पढ़ते थे। अक्षर पहचानना तो बहुत थोड़े लोग जानते थे, पर प्रायः प्रतिदिन संध्या के समय कुछ लोग कहीं-न-कहीं, मठ में या किसी दरवाजे पर, जमा हो जाते और एक आदमी रामायण की पुस्तक से चौपाई बोलता और दूसरे सब उसे दुहराते। साथ में झाल और ढोलक भी बजाते थे। वन्दना का हिस्सा तो जब रामायण का पाठ आरम्भ करते तो जरूर दुहराया जाता। इस प्रकार अक्षर से अपरिचित रहकर भी गांव मे बहुतेरे ऐसे लोग थे,जो रामायण की चौपाइयां जानते और दुहरा सकते

और विशेष करके वन्दना के कुछ दोहों को तो सभी प्रायः कण्ठस्थ रखते थे ।

त्योहारों मे सबसे प्रसिद्ध होली है । उसमें अमीर-गरीब सभी शरीक होते थे । वसन्त-पंचमी के दिन से ही होली गाना शुरू होता । उसे गांव की भाषा में 'ताल उठाना' कहते थे । उस दिन से होली के दिन तक जहां-तहां झाल-ढोलक के साथ कुछ आदमी जमा होते और होली गाते । कभी-कभी जीरादेई और जमापुर के लोगों मे मुकाबिला हो जाता और एक गीत एक गांव के लोग जैसे खतम करते, दूसरे गांव के लोग दूसरा शुरू करते । कभी-कभी गांव के आस पास के दूसरे गांवों के लोग भी गोल बांधकर आ जाते और इस प्रकार का मीठा प्रतियोग बड़े उत्साह से हुआ करता । मुझे याद है कि एक बार दो गांवो में बाजी-सी लग गई और रात-भर गाते-गाते सवेरे सूर्योदय के बाद तक लोग गाते ही रह गए, और तब उनको कहकर हटाया गया । इस गाने मे जो आदमी ढोलक बजाता है, उसे काफी मेहनत पड़ती है और वह पसीने-पसीने हो जाता है । एक गांव में ढोलक बजाने वाला एक ही आदमी था । वह सारी रात बजाता रह गया । उसके हाथो में छाले पड़ गए; पर वह कहां रुकने वाला, गांव की इज्जत चली जाती ! छाले उठे और फूट गए और इस प्रकार रात भर मे कई बार छाले उठे और फूटे, पर उसने गांव की इज्जत नहीं जाने दी । यह बात दूसरे दिन प्रतियोगिता खतम होने पर सवेरे मालूम हुई और तब लोगों ने उसकी हिम्मत की सराहना की ।

होली के दिन बहुत गन्दा गाली-गलौज हुआ करता । उसमें बूढ़े और जवान और लड़के भी एक साथ शामिल होते । गांव के एक कोने से एक जमात चलती जो प्रायः हर दरवाजे पर खड़ी होकर नाम ले लेकर गालियां गाती और गन्दी मिट्टी, और धूल कीचड़ एक दूसरे पर डालती गांव के दूसरे सिरे तक चली जाती । यही एक अवसर था जब बड़े-छोटे का लिहाज एकबारगी उठ जाता था । बड़े-छोटे केवल उम्र

में ही नहीं, जाति और वर्ग की बड़ाई-छोटाई भी उठ जाती थी। चमार, ब्राह्मण और राजपूत एक-दूसरे को गालियां सुनाते और एक-दूसरे पर कीचड़ फेंकते। जब कोई नया आदमी साफ-सुथरा मिल जाता तो उसकी जान नहीं बचती, मानो उसे भी कीचड़ लगाकर जाति में मिला लेना सभी अपना फर्ज समझते थे। यह धुरखेल दोपहर तक जारी रहता। उसके बाद सभी स्नान करते और घर-घर में पूजा होती। उस दिन का विशेष भोजन पूरी-मालपूआ है। गरीब लोग भी किसी-न-किसी प्रकार कुछ प्रबन्ध कर ही लेते। भोजन के बाद दोपहर को गुलाल और अबीर से रंग खेला जाता। सब लोग सफेद कपड़े पहनते। उस पर लाल-पीले रंग डाले जाते, अबीर और अबरख का चूर्ण छिड़का जाता। गरी-छुहारा, पान-कसैली बांटी जाती और खूब होली गाई जाती।

मैंने सुना है कि और जगहों में लोग उस दिन खूब शराब-कबाब का भी व्यवहार किया करते हैं। सौभाग्य से मैंने यह अपने गांव में कभी नहीं देखा। राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहार तो हमारे यहां शराब पीना पाप मानते हैं। कहीं-कहीं कायस्थ लोग पीते है, पर मेरे घर में एक बहुत पुरानी प्रथा चली आ रही है। लोगों का विश्वास है कि हमारे वंश में जो कोई शराब पियेगा, वह कोढ़ी हो जायगा। इसलिए वहां कायस्थों के घरों में भी शराब नहीं आई। बड़ों को देखकर छोटे भी परहेज करते हैं और यह बात आज तक जारी है।

जन्माष्टमी-रामनौमी का जिक्र कर ही दिया है, दीवाली भी अच्छी मनाई जाती थी। कुछ पहले से ही सब लोग अपने-अपने घरों को साफ करते। दीवारों को लीपते और काठ के खम्भों और दरवाज़ों में तेल लगाते। उन दिनों किरासन का तेल नहीं जलाया जाता था। शायद मिलता ही नहीं था। सरसों, तीसी, दाना अथवा रेंडी का तेल ही जलाया जाता। दीवाली में मिट्टी के छोटे-छोटे दिये जलाकर प्रायः अमीर-गरीब सब कुछ-न-कुछ रोशनी जरूर करते। बड़े

लोगों के मकानों पर बहुत दिये जलाये जाते, केले के खम्भे गाड़े जाते, बांस की मेहराबें बनाई जातीं, रंग-बिरंग की तसवीरें दियों से बनाई जातीं, जो देखने में बहुत सुन्दर मालूम पड़तीं। बड़े लोग तो ये नक्शे बनाते और हम छोटे उनके बताये हुए स्थानों पर दिये रखते, तेल डालते, बत्ती जलाते। बत्ती जल जाने के पहले लक्ष्मी पूजा होती। लक्ष्मीजी तथा तुलसी के पास बत्ती जलाने के बाद ही और सब जगहों मे दिये जलाये जाते। दिये जल जाने के बाद कौड़ी खेलने की चाल थी। हम लोग तो नाममात्र के लिए कुछ कर लेते, पर मैंने देखा है कि कुछ लोग पैसे हारते-जीतते भी थे। दीवाली के दिन विशेष दीप की तैयारी होती; पर यों तो कार्तिक-भर कुछ लोग तुलसी-चौतरे पर और आकाश में कंदील लटकाकर दिये जलाया करते।

दशहरा तो खास करके जमींदारों का त्योहार माना जाता था। पर नवरात्र मे कभी-कभी कालीजी की पूजा हुआ करती थी। उसके लिए मूर्त्ति लाई जाती और बड़े धूमधाम से पूजा होती। मैंने अपने गांव में तो कालीपूजा नहीं देखी, पर जवार में कालीपूजा हुई, इसकी शोहरत सुनने पर हम बच्चे वहां दर्शन के लिए भेजे गए थे। वहां जाकर हमने काली का, जो सचमुच काली थी और हाथ में लाल खप्पर और खड्ग लिये हुए थी, दर्शन किया था। रामलीला मे राज-गद्दी भी प्रायः दशहरे के दिन, या एक-दो दिन उसके आगे-पीछे, हुआ करती थी। खास दशहरे के दिन हमारे दादा साहब अपने साथ सब लोगों को लेकर एक छोटा-सा जलूस बनाकर निकलते और नीलकंठ का दर्शन करते।

इनके अलावा एक और त्योहार था, जिसमे सभी लोग शरीक होते थे। वह था अनन्त चतुर्दशी का व्रत। यह भादों सुदी चतुर्दशी को हुआ करता था। दोपहर तक का ही व्रत था। दोपहर को कथा सुनने के बाद खीर-पूरी खाने की प्रथा थी और संध्या को कुछ नहीं खाना होता था। सूर्यास्त के बाद पानी भी नहीं पिया जाता था।

इस व्रत में हम सब बच्चे भी शरीक होते। कथा समाप्त होने पर एक क्रिया होती, जो बच्चों के लिए बहुत मज़ाक की चीज़ होती। एक बड़े थाल में एक या दो खीरे रख दिये जाते और थोड़ा जल उसमें पंडित डाल देते। सभी कथा सुननेवाले उस थाल में हाथ डालते और पंडित पूछते, "क्या ढूंढ़ते हो?" और लोग जवाब देते, "अनन्त फल।" तब फिर पंडित पूछते, "पाया?" और उत्तर मिलता, "पाया।" पंडित कहते, "सिर पर चढ़ाओ।" और सब लोग जल अपने सिर पर छिड़कते। यह क्रिया समाप्त होने पर सभी लोगों को अनन्त, जो सूत में चौदह गांठ देकर बनाया जाता था, दिया जाता और वे उसे अपनी बांह पर बांध लेते। हम बच्चों के लिए सुन्दर रंगीन, कभी-कभी रेशम का, अनन्त पटहेरे के यहांसे खरीद करके आता। कोई-कोई सालभर बांह पर अनन्त बांधे रहते थे, इसलिए वे अपना अनन्त अपने हाथों मजबूत और काफी लम्बा बनाते, जिसमें वह सुभीते से बांधा जा सके। इस प्रकार जो अनन्त बांधता वह मांस-मछली नहीं खाता था। इसी प्रकार जो तुलसी की लकड़ी की माला या कंठी पहनता, वह भी मांस-मछली नहीं खाता।

कथा, रामलीला, रामायण-पाठ और इन व्रत-त्योहारों द्वारा गांव में धार्मिक जीवन हमेशा जगा रहता था। इनके अलावा मुहर्रम में ताज़िया रखने का भी रिवाज था। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल होते थे। जीरादेई और जमापुर में कुछ हिन्दू ही कुछ सम्पन्न थे, इसलिए उनका ताजिया गरीब मुसलमानों के ताजिया से अधिक बड़ा और शानदार हुआ करता था। मुहर्रम-भर प्रायः रोज गदका, लाठी, फरी वगैरा के खेल लोग करते और पहलाम के दिन तो बहुत बड़ी भीड़ होती। गांव-गांव के ताजिया कर्बला तक पहुंचाये जाते। तमाम रास्ते में 'या अली', 'या इमाम' के नारे लगाये जाते और गदका इत्यादि के खेल होते। बड़ा उत्साह रहता और इसमें हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता। शीरनी और तिचौरी (भिगोया

हुआ चावल और गुड़) बांटी जाती। सभी उसे लेते और खाते; पर हिन्दू लोग मुसलमानों से पानी या शर्बत छुलाकर नहीं पीते। मुसलमान भी इसे बुरा नहीं मानते। वे समझते थे कि यह हिन्दुओं का धरम है, इसलिए वे स्वयं हट जाते।

जिस तरह हिन्दू मुहर्रम में शरीक होते, उसी तरह मुसलमान भी होली के शोरगुल में शरीक होते। हम बच्चे दशहरा, दीवाली और होली के दिन मौलवी साहब की बनाई 'ईदी' अपने बड़ों को पढ़कर सुनाते और उनसे रुपये मांगकर मौलवी साहब को देते। 'ईदी' कई दिन पहले से ही हम याद करते। कागज पर मौलवी साहब की मदद से सुन्दर फूल बनाकर उसे लाल, हरे, नीले और बैंगनी रंगों से रंगते। उसी पर मौलवी साहब सुन्दर अक्षरों में 'ईदी' लिख देते, जिसे हम लोग पढ़कर सुनाते। उसमें जो लिखा जाता, वह भी कुछ अजीब संमिश्रण होता। जैसे, दीवाली की ईदी में लिखा होता 'दीवाले आमदे हंगाम्म जूला' इत्यादि, दशहरे की ईदी में लिखा जाता 'दशहरे को चले थे रामचन्दर, बनाकर रूप जोगी वो कलन्दर' इत्यादि। मुशाहरे के अलावा मौलवी साहब को, प्रत्येक बृहस्पतिवार को कुछ पैसे जुमराती के रूप में और त्योहारों पर ईदी के बदले में, कुछ मिल जाया करता था।

उन दिनों गांव में मामला-मुकदमा कम हुआ करता था। जो झगड़े हुआ करते थे, गांव के पंच लोग उन्हें तय कर देते थे। अगर कोई बात पंचों के मान की न हुई तो वह मेरे बाबा या चाचा साहब के सामने पेश होती। वे लोग भी पंचायत में शरीक होकर तय करा देते। हां, कभी-कभी चोरी हो जाया करती थी। बनिया कुछ सम्पन्न थे। उनके घरों में रात को सेंध फोड़कर चोर कुछ पैसे उठा ले जाया करते। एक बार का मुझे स्मरण है कि दूसरे गांव के बाज़ार से लौटते वक्त सन्ध्या को रास्ते में डाकू ने पैसे और कपड़े लूट लिये थे। जब कभी ऐसा वाक़या होता, थाने से दारोगा और सिपाही पहुंचते

और गांव में एक-दो दिन ठहर जाते। उनका गांव में आना एक बड़ा हंगामा था। सारे गांव में सनसनी फैल जाती, जिन लोगों पर शुबहा होता, उनके घर की तलाशी ली जाती। दो-तीन आदमी थे, जिनके बारे में मशहूर था कि वे चोर हैं। दारोगा पहुंचते ही उनको पकड़कर मुश्कें कसकर बांधकर गिरा देते और खूब पीटते। आसपास के गांवों के भी लोग, जो गलत या सही चोर समझे जाते थे, इस प्रकार पकड़-कर मंगाये जाते और बांधकर गिरा दिये जाते। मैंने देखा है कि इस तरह एक साथ पांच-सात आदमी बांधकर गिराये जाते थे और घंटों तक पड़े रहते थे।

हम लोगों की छोटी-सी जमींदारी थी। रैयतों के साथ मुकदमे तो कम होते, शायद ही कभी कचहरी में जाने की जरूरत होती। मगर एक-दूसरे जमींदार के साथ, जिनका भी हिस्सा एक गांव में था, बहुत दिनों तक कुछ जमीन के लिए मुकदमा चलता रहा। बाबा के समय से शुरू होकर पिताजी के जमाने-भर चलता रहा और उनकी मृत्यु के बाद भाई ने उसे सुलह करके तय किया। नूनू छपरे जाया करते और भाई, जो छपरे पढ़ने के लिए भेज दिए गये थे, उनको देखते और मुकदमे की भी पैरवी करते।

हिमालय की पहली सिखावन : ५

काका कालेलकर

भीमताल से आगे चले। रास्ता समतल था। दूर बाईं तरफ़ एक क़तार में रावटियां दिखाई देती थीं। दरियाफ्त करने पर मालूम हुआ कि वहां बीमार सिपाही रहते हैं। आखिर पहाड़ की चोटी पर पहुंचे। अपार आनन्द हुआ और चिर-परिचित समतलभूमि पाकर हम तेजी से चलने लगे।

परन्तु हिमालय ने तो मानो एक ही दिन में सारे सबक सिखाने की ठान ली थी। उसने फिर हमारे अभिमान पर आघात किया। 'अरेबियन नाइट्स' में अथवा 'पंचतंत्र' में जिस प्रकार एक कहानी में से दूसरी नई कहानी निकल पड़ती है, उसी प्रकार इस पर्वतशिखर पर चौड़ा होकर बैठा हुआ एक नया पहाड़ आ धमका। चार मज़दूरों के कंधों पर आराम कुर्सी में बैठे हुए किसी अमीर के जैसी गम्भीर भव्यता से और अपनी महत्ता के परिपूर्ण भान का परिचय देनेवाली स्वाभाविकता से यह पर्वत विराजमान् था। अगर यह खड़ा होता तो? तो मेरे खयाल में आकाश का चंदोवा फट ही जाता।

हमें इस बड़े भारी पहाड़ पर चढ़ना था। इसीलिए हमने अपने पास के असबाब का सारा बोझ मज़दूरों को दे दिया; अभिमान का बोझ तलहटी में ही छोड़ दिया और बादलों की तरह बिलकुल हलके होकर हम चढ़ने लगे। चढ़ते-चढ़ते ठेठ सांझ तक चढ़ते ही चले गए।

रास्ते में एक तरह के फूल खिल रहे थे। उनका आकार बारह-मासी के फूलों-जैसा था और रंग खूब उबाले हुए दूध की मलाई की तरह कुछ पीला। सुगंध की मधुरता की तो बात ही क्या? सुगंध गुलाब से मिलती-जुलती; पर गुलाब के समान उग्र नहीं। इन लज्जा-विनय-सम्पन्न फूलों को देखकर मैं प्रसन्न हुआ। मेरा अध्वखेद नष्ट हो गया। ऐसे सुन्दर और आतिथ्यशील फूलों का नाम जाने बिना मुझसे कैसे रहा जाता! लेकिन रास्ते मे कोई आदमी ही न मिलता था। मज़दूर तो अपने मज़दूर-धर्म के प्रति वफ़ादार रहकर पिछड़ गया था। उसकी बाट जोहने के लिए समय न था। और नाम जाने बिना आगे बढ़ने की इच्छा न थी। इतने मे पहाड़ की एक पगडंडी पर कोई पहाड़ी उतरता हुआ दिखाई दिया। हिमालय की पगडंडियां इतनी विकट हैं कि आदमी की कमर ही तोड़ दें। उस पहाड़ी से मैंने हिन्दी में—या सच पूछिये तो उस समय जिसे मैं हिन्दी समझता था, उस भाषा में—उन फूलों के विषय में कई प्रश्न पूछे। उसने पहाड़ी हिन्दी मे जवाब दिया; परन्तु मुझे विश्वास नहीं कि वह मेरे प्रश्नों को समझ सका होगा। मैं तो उसके जवाब का एक शब्द भी न समझ सका; किन्तु इस सम्भाषण से (मैं नहीं जानता, इसे सम्भाषण कह सकते हैं या नहीं) फूल का नाम तो मुझे मिल ही गया। असीरिया की शरशीर्ष लिपि मे लिखे हुए शिला-लेख पढ़कर कोई विद्वान् उनका अर्थ लगाने के लिए जितना प्रयास कर सकता है, उतने ही प्रयास से मैंने पता लगाया कि फूल का नाम 'कूजा' था। मालूम पड़ता है, पहाड़ी भाषा मे यह शब्द बहुत सुललित समझा जाता होगा; लेकिन खुद मुझे उस नाम ने बिलकुल मोहित नहीं किया।

दूर, बहुत दूर, अब क्षितिज दिखाई देने लगा। वहां बहुत घने बादल थे। बादलों पर संगमरमर के पर्वत-शिखर-जैसा कुछ दिखाई देता था। तलहटी का हिस्सा बादलों से ढंक जाने के कारण ऐसा जान पड़ता था, मानो मैनाक पर्वत का एक बच्चा आकाश में उड़

रहा हो। दूसरे दिन मुझे पता चला कि वह पवित्र नन्दादेवी का शिखर था।

कुछ उतरकर हम रामगढ़ आ पहुंचे। वहां एक छोटी-सी धर्मशाला थी। धर्मशाला क्या, पांच फुट ऊंचे कमरों की वह एक ऐसी कतार थी, जिनमें एक-एक छोटे दरवाजे के सिवा किसी जगह छिद्र नाम की कोई चीज नज़र नहीं आती थी। बनिये से दाल, चावल और आलू खरीद लिये। उसने दो-तीन बरतन भी दिये। हमने सोचा—"कैसा भला बनिया है। रसोई के बरतन भी देता है!" बाद में मालूम हुआ कि पहाड़ पर तो यह दस्तूर ही है। आटा-चावल के दामों में बनिया बरतनों का किराया भी लगा लेता है। फिर भी, वहां का यह रिवाज बेशक अच्छा है। ज्यों-त्यों पकाकर थोड़ा-बहुत खाया, क्योंकि हमारी रसोई ठीक से पकी नहीं थी।

धर्मशाला की सूरत देखकर हमने बाहर खुले में सोने का विचार किया और बिछौना बिछाया। इतने मे हिमालय ने कहा—"लो, नया सबक सीखो!" इतनी सख्त ठण्ड लगने लगी कि मंत्र-मुग्ध सांप जिस प्रकार अपने आप पिटारी में घुस जाता है, उसी प्रकार हम भी बिस्तर लेकर अब खूबसूरत मालूम होनेवाली उस गरम कोठरी मे जा घुसे। हमें यह विश्वास हो गया कि कमरे में एक भी खिड़की न रखकर धर्मशाला बनानेवाले शिल्पी ने मयासुर से भी अधिक कौशल से काम लिया है।

सारा दिन चलते ही रहे थे। पहली ही बार इतनी लम्बी—बीस मील की यात्रा की थी। रात को पेटभर खाया भी न था। तिस पर ठण्ड नाम पूछ रही थी। इसीलिए बहुत मनाने पर भी नींद तो पास फटकी तक नहीं। जब निद्रादेवी न आई तो उनकी सदा की बैरिन चिंता और कल्पना हाजिर हो गई। मैं सोच में पड़ा। घरबार छोड़कर, समाज की सेवा से मुंह मोड़कर, पुस्तकें पढ़ना भूलकर, अखबारों में लेख लिखने से विरत होकर, मैं किसलिए यहां आया? ईश्वर

ने मुझे जिस स्थान में नियुक्त किया, उस स्वाभाविक स्थान को छोड़कर इस अनजाने प्रदेश में क्यों आया? चूंकि मैं विरक्त हो उठा था और चूंकि हिमालय वैराग्य का ननिहाल है, क्या इस विचार से मैं यहां आया हूंगा? अगर हिमालय में वैराग्य होता तो ये गोरे भीमताल में जाकर मछली क्यों मारते? रामगढ़ का वह बनिया ग्राहकों से ज्यादा-से-ज्यादा नफा लेने की कोशिश क्यों करता? नीचे—मैदान में जिस तरह के लोग रहते हैं, उसी तरह के लोग इस पहाड़ पर भी हैं। यहां भी स्त्री अपने पति से झगड़ती है, यह पोस्टमास्टर शिकायत करता है—"मेरा यह लड़का मेरा कहना नहीं मानता", और लोग पशुओं से उनकी शक्ति से कहीं ज्यादा काम लेते हैं। निस्संदेह पहाड़ों में व्यापार नहीं बढ़ा है, रेल नहीं पहुंची है, बस्ती घनी नहीं है और इन कारणों से समाज में जो सड़ांद पैठती है, वह यहां नहीं पैठी है।

इस पराये देश में न कोई मेरी भाषा जानता है, न कोई मुझे पहचानता है, न कोई मेरा सगा-सम्बन्धी ही यहां है। और जिस वैराग्य के लिए मैं यहां आया, उसका यहां नाम-निशान नहीं है, इस ख़याल से दिल परेशान होने लगा। इसलिए बाहर कड़ाके का जाड़ा होते हुए भी मैं एक कम्बल ओढ़े बाहर निकला। मैंने निश्चय किया था कि हिमालय की अपनी यात्रा में मैं सुई से सिला हुआ कोई कपड़ा न पहनूंगा। दिन में तो धोती, चादर और कान ढंकने के लिए मफ़लर भर इस्तेमाल करता था। रात को बिछाने के लिए एक चटाई और कम्बल रखता था और ओढ़ने के लिए एक दोहर तथा बैंगनी रंग का एक मुटका। जब बाहर निकला तो आकाश निरभ्र था। नक्षत्र अद्भुत कांति से चमक रहे थे। हिमालय आने से पहले मेरे एक रसिक मित्र ने नवसारी में तारों से मेरी जान-पहचान करा दी थी। तारे मेरे दोस्त हो गए थे। पूर्णिमा के चन्द्र से भी न डरनेवाले सभी तारों को मैं पहचानता था। मैंने उनकी तरफ देखा। उन्होंने कहा, "भाई, घब-

राते क्यों हो ? यह परदेस कैसा ? क्या यहां तुम्हारा अपना कोई सगा-सम्बन्धी नहीं ? देखो, हम इतने सारे तुम्हारे दोस्त यहां ज्यों-के-त्यों मौजूद हैं। दो घड़ी सुस्ताओगे तो दूसरे भी कई उस पहाड़ की ओट से जल्दी ही ऊपर आयंगे। क्या तुम हमें भूल गए ? क्या अपने और हमारे सिरजनहार को भूल गए ? कहां गया तुम्हारा प्रणवमंत्र ? कहां गया तुम्हारा गीतापाठ ?

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।
न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं।
न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुःआत्मैव रिपुरात्मनः।

यह सब तुम्हीं कहते थे न ? आज ही सबेरे उस नदी ने तुमसे क्या कहा था ? इस पहाड़ को देखकर तुम्हारे दिल में कौनसे विचार आये थे ? क्या उन कूजा-कुसुमों की विश्वसेवा का तुम पर कोई असर नहीं हुआ ? क्या नन्दादेवी का दर्शन निष्फल हुआ ? छोड़ दो इस हृदय-दौर्बल्य को ! मन के उद्वेग को त्याग दो !" मेरी यह अश्रद्धा कि हिमालय में भी वैराग्य नहीं है, गायब हो गई। बाह्यसृष्टि और अन्तःसृष्टि में तादात्म्य हो गया और मुझे शांति मिली। मैं, आसानी से सो गया।

सबेरे उठकर आगे चले। आज तो उतरना था। जितना चढ़े थे, उतना ही उतरना पड़ा। रोम के लोगों को अपना महा साम्राज्य गंवाते समय भी इतना दुःख न हुआ होगा। कितनी मुश्किल से चढ़े थे।

लेकिन फिर भी आखिर उतरना पड़ा। हिमालय में चलने का एक नया अनुभव हुआ। ऊपर चढ़ते समय थकावट तो होती है; लेकिन वह क्षणिक होती है। पर सीधे उतार पर से उतरते वक्त जो कष्ट होता है, उससे आदमी की हड्डी-पसली नरम हो जाती है। ऐसे उतार का अनुभव होते ही मैं बोल उठा—"स्वर्ग तक चढ़ना पड़े तो वह बेहतर है, लेकिन हे विधाता ! ऐसे उतारों पर से उतरने की सज़ा तो कदापि मेरे

'शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख !"

यहां का यह प्रदेश भी बहुत रमणीय था। हमारे यहां के सरो के पेड़ों समान चीड़ और देवदार के भव्य वृक्षों की झाड़ियां अनुपम छाया का विस्तार करती थीं ; लेकिन सच्चा मज़ा तो तब आता जब नीचे गिर-कर सूखे हुए मलाइयों-जैसे पत्तों पर से पैर फिसलते थे। उस वक्त यही समझ में न आता कि हँसें या रोयें।

इस प्रदेश में थोड़ी-सी खेती भी होती हुई मालूम पड़ी ; क्योंकि रास्ते में एक छोटा-सा पहाड़ी गांव आया। वहां दो-चार किसान नया अनाज पछोर रहे थे। हवा का नाम भी न था, इसलिए दो आदमी एक चादर से हवा झल रहे थे।

रास्ते में चीड़ के बड़े-बड़े फूल बिखरे हुए दिखाई दिये। इन फूलों का वर्णन करना असम्भव है। ये फूल नारियल से भी बड़े होते हैं। इनकी पंखुड़ियाँ बबूल की लकड़ी से भी सख्त होती हैं। फिर भी यह फूल आकार मे बहुत ही सुन्दर होता है। ऐसा लगता है, मानो हरएक डण्ठल के माथे में से अंगुली के बराबर असंख्य पंखुड़ियों का एक फ़व्वारा ही फूट पड़ा हो। लेकिन रंग या सुगंध का तो नाम ही न लीजिये। लकड़ी का ही रंग और लकड़ी की ही बास। देवदार और चीड़-जैसे वृक्ष हिमालय को ही शोभा देते हैं। प्रकृति का विशाल वैभव देखकर मैं दिङ्मूढ हो गया, और गाने लगा—

रामा दयाघना, क्षमा करुनि मज पाही,
रामा दयाघना०
कोठिल कोण मी, न जाणिला हा पत्ता
आजवरि अज्ञानें, मिरविली विद्वत्ता,
देहात्मत्वाची स्थिति झाली उन्मत्ता।
येउनि जन्मा रे ! व्यर्थ शिणविली आई,
हेंचि मनि खाई—
रामा दयाघना०

अर्थात्—हे दयाघन राम, मुझे क्षमा करके मेरी रक्षा करो। मैं कहाँ का कौन हूँ, यह न जानते हुए आजतक अज्ञान से विद्वत्ता बघारता रहा। देहात्मत्व की स्थिति उन्मत्त हो गई। मैंने पैदा होकर माँ को व्यर्थ ही कष्ट दिया। यही बात दिल को चुभती है।

सचमुच ही निकम्मा जीवन बिताकर मैंने अपनी माता को अपने भार से मार ही डाला था। केवल जननी को ही नहीं, जन्मभूमि को भी। मुझे अपने अतीत जीवन से मन-ही-मन घृणा हुई। अज्ञानवश मैं विद्वत्ता की शेखी बघारता था; खुद अंधकार मे रहकर लोगों के सामने प्रकाश की बातें करता था।

मैं अपना भजन आगे गाने लगा—

करुणासागरा ! राघवा रघुराजा !
विषयीं पांगलां नका करूं जीव माझा।
भुलुनि प्रपंचा रे, भ्रमुनि भ्रमुनि ठायीं ठायीं,
हरुनि वय जाई—
रामा दयाघना०

अर्थात्—हे करुणासागर राघव रघुराज, विषयों से मेरे प्राण अपंग न बनाइये।...अरे, इस प्रपंच में फँसकर जगह-जगह भ्रमित और भ्रमित होकर आयु क्षीण हो जाती है। हे दयाघन राम...!

भजन की धुन सवार हो गई। मैं उच्च स्वर से ललकार रहा था। आगे यह चरण आया—

सच्चित्सुख तो तू परब्रह्म केवल,
सच्चित्सुख तो तू परब्रह्म केवल।

सामनेवाले पहाड़ ने एकाएक गर्जना की—

सच्चित्सुख तो तू परब्रह्म केवल।

हिमालय की वह मेघ-गम्भीर गर्जना मुझे तो अशरीरिणी वाणी प्रतीत हुई। सचमुच ही मैं सच्चित् सुखात्मक परब्रह्म हूं। मैं इसे भूलता हूं, इसीलिए पामर बन जाता हूं। ज़रा देखो तो, यह धीर-

गम्भीर हिमालय किस प्रकार सच्चित्सुख की समाधि का उपभोग कर रहा है। इस बर्फ को देखो। गरमी और जाड़ा दोनों इसके लिए बराबर हैं! देखो, इस विशाल आकाश को देखो! कितना शांत और अलिप्त है! क्या मैं इससे भिन्न हूं?

मुझ पर अद्वैत की मस्ती सवार हो गई। इसलिए पीउड़ा कब आ गया, इसका मुझे भान भी न रहा। पीउड़ा के पानी की बड़ी तारीफ़ सुनी जाती है। क्षयरोगी यहांका पानी ख़ास तौर पर मंगाकर पीते हैं। पीउड़ा में हमने भोजन बनाकर खाया, थोड़ा आराम किया और आगे बढ़े। फिर उतार। मेरे घुटनों में दर्द होने लगा। इसलिए फिर यह वृत्ति जाग्रत हुई कि मैं देहधारी हूं। धीरे-धीरे मैं फिर आस-पास की सुन्दरता निहारने लगा।

हिमालय की खेती देखने लायक़ होती है। जहां बैठी और चौड़ी पहाड़ी होती है, वहां चोटी से तलहटी तक दो-दो चार-चार हाथ चौड़ी सीढ़ियों के समान क्यारियां बनाते और उनमें हाथ से खोदकर अनाज बोते हैं। इन खेतों का दृश्य नदी के पक्के घाट के समान दीख पड़ता है।

जहां उतार ख़त्म हुआ, वहीं एक झूलता पुल आया। उस पुल को 'लोधिया का पुल' कहते हैं। पुल के नीचे के पत्थर देखने लायक हैं। नदी के प्रवाह से घिसे हुए पत्थरों का आकार बहुत सुहावना दिखाई देता था। जहां पानी के भंवर पड़ते हैं, वहां तले के खुले पत्थर भी गोल-गोल चक्कर काटकर तले के पत्थरों में जो गहरे-गहरे गड्ढे बनाते हैं, उनका दृश्य मनोवेधक होता है।

इस पुल के नीचे मैंने एक सांप देखा। यहां इसका उल्लेख इसलिए कर रहा हूं कि हिमालय के घने जंगलों मे और दूसरे भिन्न-भिन्न प्रदेशों में मैंने जो दो-तीन हज़ार मील की यात्रा की, उसमें सिर्फ़ दो सांप देखने में आये। एक यहां, दूसरा गंगोत्री के पास। अब फिर चढ़ाई शुरू हुई। दूरी पर एक पहाड़ी शहर दिखाई देने लगा। यह

अलमोड़ा था या मुक्तेसर, मैं इसका निश्चय नहीं कर सका। सांझ होने लगी और आखिर हम अलमोड़ा के पास पहुंचने लगे। वहां एक चुंगी-घर था। वहीं हमने एक बैलगाड़ी की लीक देखी। हिमालय मे बैलगाड़ी की लीक सभ्यता की परिसीमा समझी जाती है हमारे यहां की किसी राज-धानी में संगमरमर का कोई रास्ता हो तो उसके विषय में लोग जिस उमंग और अदब के साथ बोलते हैं, उसी उमंग और अदब से पहाड़ी लोग इस 'कोर्ट रोड' के विषय में बोलते हैं। बग़ल ही में मुसलमानों का क़ब्रिस्तान था। पर्वत की वन्य शोभा में ये सफ़ेद-सफ़ेद क़ब्रें भोंडी नहीं लगती थीं। अक्सर मुसलमान क़ुदरत की शोभा बिगाड़ते नहीं। सांझ के समय ये क़ब्रें ऐसी लगती थीं मानो चरागाह से लौटी हुई गायें आराम से बैठी-बैठी जुगाली कर रही हों। ३७ मील की यात्रा कुशलपूर्वक की; लेकिन आख़िर हम रास्ता भूल गए। हमने अलमोड़ा की आधी परिक्रमा की। रास्ता छोड़कर लोगों के आंगनों में से होते हुए और अनेक घूरे खूंदते हुए अंत मे हम सात बजे बाज़ार में पहुंचे। बाज़ार का रास्ता पत्थरों से पटा हुआ है। वहाँ 'हिल-वाइज़ स्कूल' का रास्ता पूछते-पूछते हम अपने एक मित्र के मकान पर पहुंचे।

मुझसे सब अच्छे : ६

घनश्यामदास बिड़ला

मुझे सवेरे टहलने की आदत है। प्रातःकाल की शुद्ध हवा मनुष्यों को नया जीवन दे देती है। जब-जब मैं घर पर रहता हूं, सवेरे का भ्रमण एक प्रकार का नियम-सा हो गया है। एक रोज़ सवेरे टहलने निकला तो वायु की परमार्थ-वृत्ति पर विचार करने लगा।

पश्चिमी हवा चल रही थी। मैंने सोचा, यह वायु कितने परिश्रम के बाद यहां पहुंची होगी! कहांसे चली, कितना उपकार किया, इसका अंदाजा कौन लगाये? भारत का पश्चिमी सागर यहांसे करीब ६०० मील होगा; किन्तु इसके आगे अफ्रीका तक केवल निर्जन समुद्र-ही-समुद्र है। सम्भवतः उससे भी पश्चिम और पश्चिमतर के प्रदेशों से पहाड़ियों, नदियों, समुद्रों, मनुष्यों, जीव-जन्तुओं को जीवन देती हुई यह वायु यहां पहुंची होगी, और अब यहां के लोगों को सुख देती हुई अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए, शांत भाव से पूर्व प्रदेशों की ओर अग्रसर होगी।

मैंने सोचा, यह हवा इतनी सेवा करती है फिर भी अखबारों में इसकी चर्चा क्यों नहीं होती? हवा से मैंने कहा, "हवा! तुम संसार का इतना उपकार करती हो; किन्तु तुम्हारी सेवा की ख़बर मैं अखबारों में तो कभी नहीं पढ़ता? तुमको चाहिए कि जो थोड़ी-सी बात करो, उसको बढ़ा-चढ़ाकर अखबारों में छपा दिया करो।"

हवा ने पूछा, "कौनसा अखबार अच्छा है?"

मैंने कहा, "हिन्दी-अंग्रेजी के बहुत-से अखबार हैं! सभी में अपनी प्रशंसा छपाया करो।"

हवा बोली, "क्या सूर्यलोक एवं चन्द्रलोक में भी तुम्हारे यहांके अख़बार जाते हैं?"

मैंने कहा, "वहां तो नहीं जाते।"

हवा ने मेरी मूर्खता पर हँस दिया और कहा, "तुम पक्के कूप-मंडूक हो। तुम्हारे लिए थोड़े-से लोग ही ब्रह्माण्ड हैं। मैंने तो प्राणिमात्र की सेवा का व्रत ले रखा है और मेरा अखबार है मेरे ईश्वर का हृदय। वहां सब खबरें अपने आप पहुंचती हैं—भली-बुरी सभी बातें वहां छपती रहती हैं। किसी बात का वहां पक्षपात नहीं। किसीके कहने से वहां कोई खबर नहीं छापी जाती है। सच्ची खबरें वहां स्वयं छप जाती हैं। मैं तुम्हारी तरह मूर्ख नहीं कि विज्ञापनबाज़ी के दलदल में फंस जाऊं। निस्स्वार्थ भाव से प्राणिमात्र की सेवा करना, यही मेरा धर्म है और मेरे स्वामी को भी यही प्रिय है। अच्छा हो तुम भी मेरा अनुकरण करो।"

हवा की यह स्पष्टोक्ति मुझे बड़ी बुरी लगी। मैं और हवा-जैसी जड़ वस्तु का अनुकरण करूं? मन में आया कि एक व्याख्यान ही झाड़ दूं। अखबारों में तो उसका अतिरंजित विवरण छप ही जायगा; किन्तु हवा को तो 'लगन लगी प्रभु पावन की'! उसे मेरा व्याख्यान सुनने की फुरसत कहां? वह तो—"कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्ति-नाशनम्—" गाती हुई शीघ्रता से चल निकली।

तब मैंने अपना सारा गुस्सा एक ऊँट पर उतार दिया। बात यह हुई कि रास्ते में एक ऊंट महाशय अपनी थकान मिटाने के लिए हाथ-पांव पीट-पीटकर धूल उछाल रहे थे। मैंने गर्द से तंग आकर, क्रोध में, ऊंट से कहा, "तुम बड़े गंवार हो। ज़रा भी तमीज़ नहीं है। पशु ही जो ठहरे। हम लोग जिन रास्तों से होकर निकलते हैं, उनमें गरीब

मनुष्य भी किनारे खड़े होकर, झुककर, हमें प्रणाम किया करते हैं। हम जब-जब टहलने जाते हैं तब-तब हमारे लठैत नौकर रास्ते में चलनेवालों का नाकों दम कर देते हैं। तुमने हमें झुककर प्रणाम करना तो दूर रहा, उल्टा धूल उछालना शुरू कर दिया। इसीसे मालूम होता है कि तुम गंवार भी हो और धृष्ट भी।"

इस पर ऊंट ने अपना व्यायाम तो बन्द कर दिया; पर वह मेरी बात सुनकर खिल-खिलाकर हँस पड़ा। बोला, "तुम मूर्ख तो हो ही, किन्तु अभिमानी भी हो। अभी तो तुम पवन को उपदेश देने की धृष्टता कर रहे थे। पवन तो आदर्श सेवक है, ईश्वर-भक्त है। उसने तुम्हें कुछ नहीं कहा; किन्तु मुझे उपदेश देने की धृष्टता न करना। बस, यह समझ लो कि तुम मुझसे बहुत गये-बीते हो।"

मैंने कहा, "ऊंट, तू पशु होकर मनुष्य को उपदेश देने चला है! मुझे तेरी बुद्धि पर तरस आता है!" ऊंट की मुखाकृति गम्भीर हो उठी। आंखों में तेज चमकने लगा। अपने नयनों को फटकारकर उसने कहा, "क्या केवल मनुष्य-देह मिलने ही से मनुष्य अपने को मनुष्य कहने का अधिकारी हो जाता है? क्या औरंगज़ेब, नादिरशाह, महमूद ग़ज़नी, हत्यारा अब्दुर्शीद या कंस, दुर्योधन और ऐसे-ऐसे अनेक अपने को मनुष्य कहने के अधिकारी हो सकते हैं? और उन्हें मनुष्य-देह मिल गई, इसी बिरते पर क्या वे अपने को हम पशुओं से ऊंचा समझ सकते हैं? यदि तुम भी ऐसा मानते हो तो तुम्हारी बुद्धि को हज़ार बार धिक्कार है!"

मैं कुछ ठण्डा पड़ गया। मैंने कहा, "भाई ऊंट, उन पापी मनुष्यों की बात न करो। वे नर-राक्षस थे; किन्तु मैं तो ऐसा नहीं हूँ। मैं तो अपने लिए कह सकता हूँ कि अपनी समझ मे मैं तुमसे कहीं अच्छा हूँ।"

ऊंट फिर हंस पड़ा। कहने लगा, "अच्छा, ज़रा बता तो दो, तुम्हारे अंदर मुझसे कौन-सी अच्छी बात है?"

मैं सोचने लगा, क्या बताऊँ? आख़िर मुझमें कौन-सी अच्छी बात है, जिसका मैं गर्व कर सकूँ? अत्यन्त साहस करके मैंने दबी ज़बान से कहा, "अच्छा तो देखो, तुम जानते हो, मैं त्यागी लोगों से कितना प्रेम करता हूँ, खादी पहनता हूँ, यह क्या कुछ कम है?" ऊंट ने गर्व के साथ कहा, "इसमें गर्व करने की क्या बात है? मुझे देखो, मैं तो कुछ भी नहीं पहनता।" मैंने कहा, "और सुनो, मैं भोजन भी सादा खाता हूँ, मिर्च-मसाले नहीं खाता।" ऊंट ने कहा, "अच्छा त्याग किया! मुझे तो देखो कि केवल सूखी पत्तियाँ ही चबाकर रह जाता हूँ।" मैंने कहा, "मैंने तो गृहस्थाश्रम का भी त्याग कर दिया है।" ऊंट ने कहा, "क्यों झूठा अभिमान करते हो? मैंने तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही नहीं किया। मैं तो ब्रह्मचारी हूँ।" मैंने कहा, "मुझमें ईर्ष्या द्वेष अधिक नहीं, झूठ बहुत कम बोलता हूँ, सो भी अनजान में। रोष भी कम आता है।" ऊंट ने कहा, "इसमें कौन-सी बड़ाई की बात है? मुझमें न ईर्ष्या है, न द्वेष और न क्रोध। झूठ तो जीवन में कभी बोला नहीं।"

मैंने कहा, "मुझमे सेवा-वृत्ति है।"

ऊंट ने कहा, "इसका नमूना तो हम रोज़ देखते हैं। कल एक पीला बछड़ा रो रहा था; क्योंकि उसकी माँ का दूध नित्य-प्रति तुम पी लेते हो। बछड़ा तृण खाकर जीवन-निर्वाह करता है। उस दिन, सुनते हैं, तुमने एक घोड़े को भी दौड़ कराकर मार डाला। शहर के तमाम घोड़ों मे इसी बात की चर्चा थी। उनकी एक विराट् सभा हुई थी, उसमें मृतक के प्रति सहानुभूति और तुम्हारे प्रति घृणासूचक प्रस्ताव भी पास किये गए थे। न मालूम इस प्रकार तुमने कितने ऊंटों, घोड़ों और बैलों को कष्ट दिया है। कितने पशुओं को लंगड़ा किया है! कितनों को अपनी मोटर के धक्कों से गिराया है! अच्छा सेवा का दम भरने चले हो! मुझे देखो, न कपड़े पहनता हूँ और न जिह्वा-स्वाद का नाम-मात्र भी सम्बंध है। केवल सूखे तृण खाता हूँ। फिर भी बेंत, कोड़े

और ठोकरें खाता हुआ नम्रतापूर्वक तुम लोगों की सेवा करता हूँ। इसी को सेवा-व्रत कहते हैं। तुम लोगों से सेवा कैसे सम्भव है ? पहनने के लिए तुम्हें कीमती वस्त्र चाहिए, खाने के लिए सुस्वादु भोजन, सेवा के लिए नौकर, रहने के लिए महल, टहलने के लिए अच्छे वाहन या मोटर। सफर करते हो तो मनों सामान एवं सुख-सुविधा की सामग्रियाँ साथ में चलती हैं और तुम्हारे लिए बोझा ढोना पड़ता है हमको। अकाल पड़ता है तो हम लोग भूखों मरते हैं, पीने को पानी नहीं मिलता; किन्तु तुम्हारे बग़ीचो की फुलवाड़ी को सरसब्ज़ रखने में ही ग्राम के अनेक बैलों की शांति नष्ट हो जाती है। हम लोग प्रायः ब्रह्मचारी रहते है; किन्तु सुनते हैं, तुम्हारा मनुष्य-समाज इस विषय मे बड़ा पतित है। शर्म की बात है कि इस पर भी तुम अपने को हमसे श्रेष्ठ समझो।"

ऊंट की बात मेरे हृदय में चुभ गई। मुझे ग्लानि होने लगी। अन्तरात्मा कहने लगी, "मूर्ख, तू ऊंट से भी गया-बीता है।" पास में खड़े हुए करील के वृक्ष ने सिर हिलाकर कहा, "ऊंट सच कहता है।" तब मैंने कहा, "प्रभो ! मुझे ऊंट जितना आत्म-बल दो।"

सहसा आकाश मे बिजली चमकी। मेघ गर्जा। सुननेवालों ने सुना। कहनेवालों ने कहा—

"मो सम कौन कुटिल खल कामी ?
जेहि तन दियो ताहि बिसरायो,
ऐसो निमकहरामी !
मो सम कौन कुटिल खल कामी ?"

किसीने कहा, "कहनेवाला और सुननेवाला दोनों एक हैं।"
किसीने कहा, "यह अन्तर्नाद है।"
मैंने चिल्लाकर कहा, "मुझसे सब अच्छे हैं।"

आतिथ्य : ७

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

जैसे जीवन-पथपर, वैसे ही साधारण सड़क पर, आदमी के लिए अकेले चलना कठिन है। कोई ठहरकर किसी पीछे आनेवाले का साथी हो लेता है, कोई चार क़दम तेज़ चलकर आगे जानेवाले का।

महा कवि ने गाया है—

> "यदि तोर डाक शुने केउ न आसे
> तबे एकला चलो रे ! एकला चलो रे !"

अर्थात्—यदि तेरी आवाज सुनकर कोई साथ नहीं आता तो अकेला चल ! अकेला चल।

लेकिन मुझे उस दिन किसीको आवाज़ देने की भी फ़ुर्सत नहीं थी। किसी साथी की आशामयी प्रतीक्षा मे मैं ज़रा दम लेने के बहाने भी न ठहर सकता था। कारण ? उस दिन मेरे सिर पर भूत सवार था। मैंने निश्चय किया था अपनी चलने की सामर्थ्य की परीक्षा करने का। चलना तो उन दिनों मेरा रोज़ का काम था; लेकिन मैं जानना चाहता था कि एक दिन में मैं ज्यादा-से-ज्यादा कितना चल सकता हूं।

कहना न होगा कि अपना सामान मैं खुद उठाये था। कंधे पर एक हल्का कम्बल और हाथ मे टीन की एक छोटी बाल्टी। इनके अलावा कोई गज़-डेढ़-गज़ खद्दर का एक टुकड़ा, जो धूप लगने पर छतरी का काम देता, नहाने के समय धोती का, भिक्षा मांगकर खाने के समय पात्र का और सोने के समय बिस्तरे का। हाँ, कोई चीज़ बांधकर ले चलने के समय सूट-केस का भी काम वही देता था।

रास्ते चलते प्यास लगती। कुछ देर ठहरकर पानी पीना चाहिए, साधारण नियम है। मैं इस नियम का पालन कहीं नहीं करता। पानी मिलते ही पी लेता और चल देता। एक बार सन् १६२२ के कांग्रेस आन्दोलन के दिनों में मैं और मेरा एक साथी तीन घंटे में अठारह मील दौड़कर गिरते-पड़ते कांग्रेस की एक बैठक में इस उद्देश्य से पहुँचे थे कि कहीं हमारी अनुपस्थिति के कारण "सिविल-नाफ़र-मानी" का प्रस्ताव पास होने से रह न जाय। उस दिन की याद थी। मैं भागा जा रहा था। अफ़सोस यही था कि दिन सर्दियों के थे, जो सभी धातुओं की तरह सिकुड़कर काफ़ी छोटे हो गये थे। गर्मी में तो चलने की बहार रात में रहती है और कहीं चाँदनी रात हुई तो ऐसा मज़ा आता है, जैसा चन्द्रिका की छटा में ताजमहल की परिक्रमा करने में। लेकिन सर्दी मे सूरज का डूबना और यात्री की शामत आना, दोनों बातें एक साथ होती हैं और ख़ासकर ऐसे यात्री की, जिसके पास ओढ़ने को पर्याप्त कपड़े न हों, रात काटने का कहीं ठिकाना न हो, भरोसा हो तो सिर्फ़ ईश्वर का।

रास्ता चलते लोगों से मैं पूछता, "क्यों भाई! आगे कोई ठहरने लायक गाँव है?" लोग किसी गाँव का नाम बतलाते। मैं वहां न ठहरता। यही लालच था कि दो-चार मील और हो जायँ। आगे एक कस्बे का पता लगा। सोचा, आज वहां तक तो ज़रूर पहुँचेंगे। रात हो चली थी। चलने की गर्मी मे सर्दी लग तो नहीं रही थी; लेकिन पड़नी शुरु हो गई थी और उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। तब भी उस क़स्बे तक पहुँचने की धुन थी। इसके सिवा दूसरा चारा भी क्या था? कोई दूसरी बस्ती भी आस-पास हो? वही एक बस्ती थी—वह भी पता लगा कि मुसलमानों की। एक पहाड़-सा टूट पड़ा। क्यों न टूट पड़ता, जब मुझे बचपन से यह शिक्षा मिली थी कि मुसलमानों का न केवल धर्म हमसे भिन्न है, बल्कि समाज भी। पहले तो मैं किसी मुसलमान का दरवाज़ा खटखटाने का साहस ही कैसे

करता, और यदि साहस करता तो क्या आतिथ्य पाने की आशा रख सकता था ?

किसीने बताया कि उस कस्बे में एक हाई स्कूल है, उसके हेड मास्टर हैं एक जैनी। बस क्या था ! जान-में-जान आई। धर्मशालाएँ बनवाने में किनका अव्वल नम्बर है ? जैनियों का। मन्दिरों के बनवाने मे कौन पहली पंक्ति में खड़े होंगे ? जैनी। इस तरह की बातें रास्ते भर मन में आती रहीं और मैंने सोचा कि यदि मिलेगा तो गरमागरम पानी से पैर धोऊँगा। हो सकता है, गरम तेल भी मलने को मिल जाय। और कहीं गरम दूध मिल गया तो क्या कहना ? ३५-३६ मील का सफ़र कर चुकने पर, थककर चूर हो जाने पर, एक बार बैठकर फिर जल्दी उठने की आशा मन मे न रहने पर ऐसी इच्छा क्या अनधिकार चेष्टा समझी जायगी ? जो हो, उस रात मे ऐसा ही हिसाब लगाता हुआ उन हेडमास्टर साहब के बंगले पर जा पहुंचा। बंगला क़स्बे से बाहर था—ऐसे ही जैसे किसी भी शहर में सिविल लाइन के बँगले। अँधेरे मे दो-चार घर आस-पास दिखाई दिये। हेडमास्टर साहब के बंगले पर पहुँचकर मैंने वैसे ही दस्तक दी जैसे कोई अपने घर के दरवाज़े पर देता है। "हेडमास्टर साहब, हेड मास्टर साहब" —कहकर पुकारा। दरवाज़ा खुला। अन्दर से एक सज्जन लालटेन लिये हुए निकले। मुझे उस समय अपनी पड़ी हुई थी। मैं उनकी शक्ल-सूरत, क़द-क़ामत को क्या निरखता ? वे ही मेरी शक्ल को अच्छी तरह पहचानने की कोशिश करते हुए बोले, "क्या है ?"

"मैं एक विद्यार्थी हूँ, ऐतिहासिक महत्त्व के स्थानों को देखने के विचार से पैदल यात्रा कर रहा हूँ। आज की रात, आज्ञा हो तो, आपके यहाँ काटना चाहता हूँ।"

आशा के ठीक विपरीत जवाब मिला, "हर्गिज़ नहीं।"

मेरी सब अक्ल गुम हो गई। अपने को सँभालते हुए—ठीक वैसे ही जैसे कोई गिरी हुई पगड़ी संभाले—मैंने निवेदन किया, "यहाँ

कोई परिचित नहीं। रात अँधेरी है। पहली बार इस बस्ती में आया हूँ। कहाँ जाऊँ ?"

"यहाँ आसपास कई चोरियाँ हो गई हैं। हम अपने घर किसीको नहीं ठहरने देते।"

"अपने बरामदे में पडे रहने को आज्ञा दे दीजिए। सुबह होते ही मैं अपना रास्ता लूँगा।"

"न, ऐसा हो नहीं सकता। बस्ती में एक धर्मशाला है। वहाँ चले जाओ।"

"मैं आज बहुत चला हूँ। थककर चूर हो रहा हूँ। एक क़दम भी और चलने की सामर्थ्य नहीं है। फिर इस अँधेरे में कैसे कहाँ धर्मशाला को खोजता फिरूँ ?"

"जा रे, इसे धर्मशाला का रास्ता दिखा आ।"—कहकर हेड-मास्टर साहब ने एक आदमी को मेरे साथ कर दिया।

हमें लगी हो कडी भूख और कोई खिलाना चाहे रोटी का केवल एक टुकड़ा तो हम धन्यवादपूर्वक उस एक टुकड़े को भी अस्वीकार कर देंगे। कुछ ऐसी ही अवस्था उस समय मेरी हुई। थकावट के दुःख से भी अधिक दर्द था मर्माहत अभिमान का। दो-चार क़दम चलकर मैंने उस आदमी से किंचित् रोष-भरे लहजे में कहा, "जाओ, तुम लौट जाओ। जो बीतेगी, सहेंगे। धर्मशाला का रास्ता स्वयं ढूंढ लेंगे।"

आदमी शायद यही चाहता भी था। वह लौट गया और मैं अपनी समझ मे धर्मशाला की ओर चल दिया, बिना यह जाने कि धर्मशाला किस ओर है ? पूरब घूमा, पश्चिम घूमा, उत्तर घूमा, दक्षिण घूमा—कहीं कुछ पता न लगा। चारों तरफ़ सडकें थीं, लेकिन सब सड़कों पर अन्धकार ! काफ़ी देर इधर-उधर उटकते रहने पर एक टिमटिमाता हुआ चिराग़ दिखाई दिया। सोचा, वहाँ कोई होगा, चलकर पूछा जाय। मैं उसकी ओर ठीक इस प्रकार बढ़ा चला जा रहा था, जैसे समुद्र में डूबता हुआ कोई तैराक किनारे की ओर। धीरे-धीरे पहुँच ही गया। देखा,

दीपक का प्रकाश खिड़की में से आ रहा था। दरवाज़े पर फिर दस्तक देनी पड़ी। अन्दर मे फिर एक आदमी लैम्प लिये आता दिखाई दिया। दरवाज़ा खुलते ही आवाज़ आई, "क्या है ?" जबतक मैं उत्तर दूँ, मुझे सुनाई पड़ा, "अरे, तुम फिर आगए !" मैंने गर्दन उठाई। वही हेडमास्टर साहब थे, जिनके घर से मैं थोड़ी ही देर पहले अपना-सा मुँह लेकर विदा हुआ था। बात यह हुई कि इधर-उधर घूमते मुझे दिशा-भ्रम हो गया और मैं कोल्हू के बैल की तरह जहांसे चला था, वहीं फिर आ पहुँचा। पृथ्वी के गोल होने का एक अच्छा प्रमाण मेरे हाथ लगा और मेरे निश्चित रूप से चोर होने का हेडमास्टर साहब को।

"दौड़ो ! दौड़ो ! देखो, इसे अभी निकाला था, अब यह पिछवाड़े की ओर से आया है।" हेडमास्टर साहब की चिल्लाहट सुनकर दो ही चार मिनट में आसपास के लोगों ने मुझे घेर लिया। कोई कहता, "पुलिस को बुलाओ।" कोई कहता, "नहीं, थाने में ही ले चलो।" जो कुछ न कहता, वह चार चपत लगाने का प्रस्ताव तो कर ही देता। मेरी अक्ल हैरान थी। क्या करूँ, क्या न करूँ ? बुरा फँसा था। कैसे विश्वास दिलाता कि मैं चोर नहीं हूँ। एक ज्ञानार्थी यात्री हूँ। किस्मत का मारा हेडमास्टर साहब के चंगुल मे फँस गया हूँ। लोग कहते थे—"देखिये न ! अन्धेर है ! अभी-अभी निकाला था। फिर इतनी जल्दी हिम्मत की है।" उन्हें क्या मालूम, जो उनके लिए अन्धेर है, वही मेरे लिए महा-महा अन्धेर है। विपत्ति पड़ने पर कहते हैं, अक़्ल मारी जाती है; लेकिन जब आदमी को और कोई सहारा नहीं रहता तब बुद्धि ही उसके काम आती है। मैने उसीको साहस के सहारे खड़ा करने की कोशिश करते हुए कहा—

"देखिए, मैं दूर से चलकर आया हूँ। थकान से चकनाचूर हूँ। आप मुझे बैठने के लिए जगह दीजिये और फिर ठण्डे पानी का एक गिलास। फिर बैठकर कृपया मेरी बात सुन लीजिये। यदि आप लोगों को विश्वास हो जाय कि मैं चोर नहीं हूँ तो कृपया एक बार फिर

अपना आदमी दे दीजिये मुझे धर्मशाला का रास्ता दिखा देने के लिए। और यदि विश्वास न हो तो थाने में भेज दीजिए, या और जो चाहे कीजिए।" वे लोग बुरे आदमी न थे। और बुरे आदमी में क्या भलाई नहीं होती? मेरी बात सुन ली गई। एक स्टूल बैठने के लिए दिया गया—वैसा ही जैसा गर्मियों में पंखा खींचनेवाले कुलियों को दिया जाता है कि यदि उस पर बैठे-बैठे ऊँघे तो धड़ाम से गिर पड़ें। और पानी का एक गिलास भी। मैंने स्थिरता से बैठकर हलके-हलके पानी पिया और अपना थैला खोलकर उसमें से दो चिट्ठियाँ निकालीं। दोनों परिचय-पत्र थे। एक था ग्वालियर-पुरातत्त्व-विभाग के डाइरेक्टर के नाम और दूसरा निज़ाम हैदराबाद के प्रधान मंत्री महोदय के नाम। दोनों में मेरा साधारण परिचय था और यदि वे मुझ ज्ञानार्थी यात्री की कुछ सहायता कर सकें तो धन्यवाद के दो शब्द। निज़ाम हैदराबाद का तो पत्र मैंने ख़ास तौर पर इसलिए ले लिया था, क्योंकि मैंने सुना था कि बिना परिचय-पत्र के पकड़कर जेल में भी डाल दिया जा सकता हूँ। तो मैंने अपने दोनों परिचय-पत्र दिखाते हुए कहा, "यदि वे पत्र किसी चोर के पास हो सकते हैं तो मैं चोर हूँ और यदि इन पत्रों के रखने-वाले की चोर न होने की भी कुछ सम्भावना है तो मैं चोर नहीं हूँ।" लोगों की आपस में फुस-फुस हुई और चाहे मैं कोई भी होऊँ, निश्चय हुआ मुझे धर्मशाला ही भेजने का। वही आदमी फिर मेरे साथ कर दिया गया और उसके पीछे-पीछे मैं ऐसे चलने लगा जैसे अखाड़े में हारा हुआ कोई पहलवान। बस्ती दूर न थी। दिशा-भ्रम न हुआ होता तो मैं भी कब का धर्मशाला पहुँच गया होता। लेकिन अब तो रात काफी हो गई थी। शायद दस बज चुके थे। ग्यारह भी बज गये होंगे। सर्दियों में रात के नौ बजे ही गरमियों की आधी रात हो जाती है। दस बजे तक तो कोई चोर-उचक्के और दुखिया ही जागते रहते हैं। मैं उस रात चोर भी था, उचक्का भी और शायद दुखिया भी। धर्मशाला पहुँचा तब पता लगा कि दरवाज़ा बन्द हो चुका है और अब किसी

तरह नहीं खुल सकता।

"यही धर्मशाला है।" कहकर आदमी मुझे छोड़कर चलता बना।

अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? धर्मशाला में बाहर की ओर एक बरामदा था। मैंने उसीमें रात काटने की सोची। पास में कपड़ा काफी नहीं था तो क्या? सर्दी ज़ोर से पड़ रही थी तो क्या? और कोई चारा ही नहीं था। अंधेरे मे अन्दाज़ करके मैं एक कोने मे बैठ रहना चाहता था कि आवाज़ आई—"कौन है?"

मैंने कहा, "मुसाफ़िर।"

"इतनी रात गये आये हो?"

"हाँ, भाई, आज ऐसी ही बीती।"

"इधर आ जाओ। उधर हवा लगेगी।" कहते हुए उस अपरिचित आवाज़ ने मुझे अपने पास के कोने में बुला लिया।

"तुम कहाँ से?"—मैंने पूछा।

"हम तो भिखमंगे हैं। अंधे हैं, दिखाई नहीं देता।"

अंधे भिखमंगे के पास लेटने का जीवन में पहला अवसर था। कितने पैसे मिले? क्या खाने को मिला? कुछ ऐसे ही सवाल मैंने पूछे; लेकिन मैं तो व्यग्र था अपनी सुनाने के लिए। उस रात मुझ पर जो बीती थी, उसे सुननेवाला मिला था पहले-पहल मुझे वही अन्धा।

अथ से इति तक मैंने कह सुनाई। उस सहानुभूति के साथ जो एक दुखिया को दूसरे दुखिया से होती है, वह अन्धा मेरी बातें सुनता रहा। रामकहानी ख़त्म हुई तब अन्धेरे में टटोलते हुए उसने पूछा, "कहां हैं तुम्हारी टांगें? उन्हें ज़रा दबा दूँ।"

मैंने कहा, "न यार! रहने दो।"

"अच्छा, यह बताओ, तुम्हारे पास कोई कपड़ा है?"

"है।"

"कहाँ है? मुझे दो।"

मेरे पास वही एक साफ़ा था—गज़ डेढ-गज़ का टुकड़ा। मैंने दे

दिया। अन्धे ने अपने हाथों से मेरी टाँगों को टटोला और नीचे से ऊपर तक कसकर बाँध दिया। उसने कहा, "अब थोड़ी देर ऐसे ही बैठे रहो।" गहरी सहानुभूति दिखानेवाले की आज्ञा का उल्लंघन आसान नहीं होता। मैं मूर्त्तिवत् बैठा रहा। थोड़ी देर के बाद उसने मेरी टाँगें खोल दीं। रुका हुआ खून तेजी से दौड़ने लगा। मालूम हुआ, थकावट जाती रही। बातें करते-करते नींद आ गई। सुबह उठा तब देखा, मेरा साथी मुझसे पहले ही उठकर चला गया।

सुख का स्वरूप : ८

हरिभाऊ उपाध्याय

यदि हम मनुष्यों से पूछें कि संसार मे तुम क्या चाहते हो, तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है, तो तरह-तरह के उत्तर मिलेंगे। धन, वैभव, राज्य, पुत्र, संतति, कीर्त्ति, मान, सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, मुक्ति, ईश्वर-प्राप्ति, शान्ति, सुख, आनन्द, ज्ञान, इनमें से कोई एक लक्ष्य वे अपना बतावेंगे। मनुष्य संसार या जीवन मे जो कुछ करता है, वह इन्हीं से प्रेरित होकर करता है। विचार करने से ये सब लक्ष्य या उद्देश्य दो भागों में बंट जाते हैं—शारीरिक, भौतिक, या ऐतिहासिक तथा मानसिक, पारमार्थिक या आध्यात्मिक। धन से लेकर पद-प्रतिष्ठा तक के उद्देश्य भौतिक व मुक्ति से लेकर ज्ञान तक विषय आध्यात्मिक कोटि में आते हैं। यदि मनुष्य के जीवन के इन भिन्न-भिन्न उद्देश्यो के लिए किसी एक ही सर्वमान्य शब्द का प्रयोग करना चाहें तो 'सुख' कह सकते हैं।

समाज में यह धारणा प्रचलित है कि भौतिक या सांसारिक सुख इसी जन्म के लिए, आध्यात्मिक व पारलौकिक सुख अगले जन्म या इस जन्म के बाद की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। यह सही हो या ग़लत, यह निर्विवाद है कि मनुष्य जिस तरह का भी सुख चाहता हो, उसके लिए उसे उद्योग या परिश्रम अपने वर्त्तमान जीवन में ही करना पड़ता है। जिस लक्ष्य को लेकर वह चलता है, उसीकी सिद्धि में

उसे अपने जीवन की कृतार्थता मालूम होती है।

यह निश्चित है कि आपको जो कुछ करना है, वह अपने इस छोटे जीवन में तो जरूर ही कर लेना है। आगे दूसरा जन्म मिलनेवाला होगा तो उसमें भी जरूर किया जायगा; परन्तु आप वर्त्तमान जीवन में तो हाथ-पर-हाथ रक्खे नहीं बैठ सकते। साथ ही आपका उद्देश्य आपके प्रयत्नों से ही सफल हो सकेगा। यदि ईश्वर की कृपा हुई भी तो वह बरसात की तरह एकाएक आकाश से नहीं बरसती। अतः आपके प्रयत्न के स्वरूप में ही किसी व्यक्ति या समूह के द्वारा उसके फल की पूर्त्ति ईश्वर करता है। इस विषय मे आप तटस्थ, उदासीन, निष्क्रिय या गाफिल उसी दशा मे रह सकते हैं, जब आपने ऐसा कोई लक्ष्य या उद्देश्य अपने जीवन का नहीं बनाया हो, या उसे छोड़ दिया हो।

सुख चाहे सांसारिक हो या आत्मिक, बहुत कम मनुष्य संसार में ऐसे मिलेंगे, जिन्हें उस सुख की यथार्थ कल्पना हो, उस सुख के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो। अधिकांश लोग तो रूढ़ि या परम्परा या अपने संस्कारों के अधीन होकर प्रायः अन्धे की तरह इनमें से जो वस्तु उन्हें प्रिय लगती है, उसकी प्राप्ति या सिद्धि के पीछे पड़ जाते हैं। इस तथा तत्सम्बन्धी अन्य आनुषंगिक ज्ञान के अभाव में ही वह उसके लाभ से वंचित रहता है व सुख की जगह दुःख को पल्ले बांध लेता है। आज यदि संसार में हम पूछें कि तुम सुखी हो या दुखी तो अपने को दुखी की श्रेणी में रखनेवालों की संख्या बहुत बड़ी मिलेगी। प्रयत्न सब सुख का करते हैं, पर पाते हैं अधिकांश में दुःख ही। यह संसार का बड़ा भारी आश्चर्य है। मनुष्य नित्य इसका अनुभव करता है, परन्तु इसका मूल खोजकर उसका सही इलाज करने वाले बिरले ही होते हैं।

जबसे सृष्टि में मनुष्य जीवधारी पैदा हुआ है तबसे उसने नाना प्रकार से विविध साधनों तथा विधानों से सुख-सिद्धि के प्रयत्न किये

हैं। उसका आजतक का सारा कार्यक्रम—इतिहास—इसी उद्योग का साक्षी है। भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएं, संस्थाएं, संस्कृतियां, राज्य, धर्म, काव्य, साहित्य, कला, उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा, ज्ञान, तत्त्व, आचार व तंत्र सब उसके इस उद्देश्य की पूर्ति के साधन-स्वरूप निर्माण हुए हैं; परन्तु मनुष्य कहीं कोई ऐसी ग़लती जरूर कर रहा है, जिससे वह अपने मूल उद्देश्य से अबतक बहुत दूर रहा है और उसके बजाय न केवल व्यक्तिगत जीवन में, बल्कि सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन मे भी नित्य दुःख, कलह, वैमनस्य, ईर्ष्या, हिंसा, अत्याचार के दर्शन हो रहे हैं। इसका मूल हमे खोजना ही होगा। जहां-जहां अपनी गलतियां मालूम हों, उन्हें दुरुस्त करना ही होगा।

इस गलती को पकड़ने में हमें सहूलियत होगी यदि हम पहले अपने को यह समझायें कि जिस चीज के अर्थात् सुख के पीछे हम पड़े हैं, वह असल मे है क्या? जब उसका असली स्वरूप समझ मे आ जायगा तो फिर उसके सही साधन व उसके प्राप्त करने की रीति या पद्धति पर विचार करना आसान हो जायगा और तब हम अबतक के भिन्न-भिन्न प्रयत्नों की समालोचना व उसके साथ तुलना करके तुरन्त देख सकेंगे कि गलती कहां व किस तरह की हुई है। फिर हमें उसका उपाय खोजने मे सुगमता होगी।

सुख का स्वरूप समझने का यत्न करते हैं तो प्रश्न उपस्थित होता है कि सुख किसे होता है व किस स्वरूप में होता है। फिलहाल हमने मनुष्य-जीवन के ही प्रश्न को हाथ में लिया है, अतः उसीकी मर्यादा मे इस प्रश्न का उत्तर पाना है। सुख किसे होता है, आदि प्रश्न पर विचार करने लगते हैं तब यह जिज्ञासा होती है कि सुख मनुष्य के शरीर को होता है, मन को होता है या आत्मा को होता है? सुख उसे अपने भीतर से होता है या बाहरी जगत् से? जहां-कहीं से मिलता हो, किस विधि से, किस रूप में आता है? मनुष्य के ज्ञान व अनुभव के आधार पर हमें इसका उत्तर मिल सकता है।

जिसे हम सुख कहते हैं, वह लड्डू, फल, किताब, मूर्त्ति या स्त्री की तरह कोई प्रत्यक्ष वस्तु नहीं है कि सीधे-सीधे उसके आकार-प्रकार का वर्णन करके उसका परिचय दिया जा सके। वह एक प्रकार की भावना या वेदना अर्थात् सम्वेदन है, जो वर्णन से परे है और केवल अनुभव किया जाता है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मनुष्य सृष्टि के विविध पदार्थों के ज्ञान व स्वाद को पाता है। जो ज्ञान या स्वाद उसे रुचिकर, अच्छा या प्रिय लगता है वह उसके लिए सुखदायी होकर सुख कहलाता है। जो अरुचिकर या बुरा लगता, है वह दुःखमय होकर दुःख कहलाता है।

अब प्रश्न यह है कि इन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान या स्वाद मनुष्य को मिला, वह उसके शरीर के भीतर जाकर कहां व किसको मिला? सभी अपने अनुभव से यह कह और समझ सकते हैं कि हमारे मन को मिला और हमारे मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं में संचारित होकर मिला। यदि यह मन नामक इन्द्रिय या वस्तु शरीर में न हो तो मनुष्य के लिए बाहरी जगतके पदार्थों का ज्ञान व सुख अनुभव करना कठिन हो जाय। इसके विपरीत मन मे यह अद्भुत शक्ति है कि वह ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के बिना केवल कल्पना से भी सुख-दुःख को ग्रहण व अनुभव कर सकता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य-शरीर में बाहरी इन्द्रियों की अपेक्षा भीतरी इन्द्रियों की महिमा का मूल्य अधिक है। इसलिए मन मनुष्य की भीतरी व बाहरी तमाम इन्द्रियों का राजा कहा गया है और यह माना जाता है कि हमारे सुख-दुःख का सम्बन्ध प्रधानतः हमारे मन से है, न कि शरीर से। अब हम उस नतीजे पर पहुँचे कि सुख-दुःख एक भावना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सुख-दुःख अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते और शरीर या इन्द्रियां उसका एक साधन हैं; परन्तु उसके भोगने या उसका आनन्द लेनेवाला वास्तव में हमारा मन है। मनुष्य के मन में भावना उसके संस्कार के अनुरूप बनती या उठती है और प्रत्येक मनुष्य के संस्कार भिन्न-भिन्न

होते हैं। यही कारण है कि जो मनुष्यों की सुख-दुःख-सम्बन्धी भावनाओं में अन्तर पड़ता व रहता है। एक मनुष्य जिस बात में सुख या हर्ष का अनुभव करता है, उसीमें दूसरे को दुःख या शोक का अनुभव होता है। जुदा-जुदा रंग-रूप, रस में जो जुदा-जुदा मनुष्यों को प्रीति या अप्रीति होती है, उसका भी कारण उनके भिन्न-भिन्न संस्कार ही हैं। इन संस्कारों के योग से मनुष्य का स्वभाव बनता है और जिसका जैसा स्वभाव बन जाता है, वैसी ही रुचि और अरुचि, श्रद्धा और अश्रद्धा बनती रहती है।

मनुष्यों की सुख-संबंधी, रुचि-अरुचि व साधन चाहे भिन्न-भिन्न हों, पर सुख का अनुभव सबको एकसा होता है। सुख के इस आनंद-अनुभव की मात्रा मे फर्क हो सकता है; परन्तु उसकी किस्म में, मस्ती मे, कोई फर्क नही रहता। एक व्यक्ति संगीत के सुमधुर स्वरों में जो आनन्द अनुभव करता है, वही दूसरा किसी सुन्दर दृश्य व पवित्र भाव से कर सकता है। जो हो, मुद्दे की बात यह है कि जब कि सुख का सम्बन्ध मुख्यतः मन से है तो हम उसे मन में न पाकर बाहर से पाने का इतना भगीरथ प्रयत्न क्यों करते हैं? क्या यह संभव नहीं है कि मन और सुख के बाह्य साधनों की यह सीमा सदा याद रक्खें और साधन को ही सुख समझने की भूल न करें?

यहां कोई यह प्रश्न कर सकता है कि सुख चाहे वस्तुओं से मिलता हो, चाहे मनुष्य अपने मन के भावों से ग्रहण कर लेता हो, अर्थात् सुख चाहे वस्तुगत हो, चाहे व्यक्तिगत या भावगत हो, वह रहता कहाँ है, आता कहाँ से है व आकर फिर जाता कहाँ है? यदि वह बाहरी जगत् से हमारे भीतर प्रवेश करता है तो वहाँ उसके रहने का स्थान कौनसा है? यदि हमें अपने मन में व भीतर से ही प्राप्त होता है तो वहाँ कहाँ से आता है? यह सवाल तो साथ में इस प्रश्न जैसा है कि संसार की समस्त वस्तुएं व भावनाएं वास्तव में कहाँ से आती हैं? कहां जाती हैं? इन सबका उद्गम अलग-अलग है या कोई एक है? सच पूछिये

तो हमारा सारा अध्यात्म-ज्ञान ऐसी ही जिज्ञासाओं के फलस्वरूप उत्पन्न व प्रकट हुआ है। इसका उत्तर देने के लिए हमें अध्यात्मशास्त्र या ब्रह्मविद्या में प्रवेश करना होगा। यहाँ तो सिर्फ इतना लिख देना काफी होगा कि जिस परमात्मा, तत्त्व या शक्ति में से यह सारा ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ है, उसीमें सृष्टि के तमाम पदार्थ व भाव समाये हुए रहते हैं, उसीमें से वे प्रकट होते हैं और फिर समय पाकर उसीमें लीन हो जाते हैं। जब वे प्रकट होकर रहते हैं तब भी उस महान् शक्ति के दायरे से बाहर नहीं जाते। प्रकट व अप्रकट दोनों अवस्थाओं में वे उसी शक्ति की सीमा या क्षेत्र में रहते हैं, कभी व्यक्त दशा में कभी अव्यक्त दशा में। जब व्यक्त दशा में होते है तब उन्हें हम या तो अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं या मन के द्वारा अनुभव करते हैं। जैसे बिजली अव्यक्त दशा में ब्रह्माण्ड में फैली हुई है। कुछ साधनो व उपकरणों से ग्रहण कर हम उसे प्रकट रूप मे लाते हैं। अप्रकट होकर फिर वह अपने असली अव्यक्त रूप में व स्थान—आकाश मे, लीन हो जाती है, छिप जाती है। उसी तरह अच्छे-बुरे, सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि के सब भाव इन्द्रिय-रूपी उपकरणों से हमारे मन पर एक प्रकार से व्यक्त होकर अनुभूत होते हैं और कुछ समय ठहरकर फिर अपने पूर्व अव्यक्त रूप में लीन हो जाते हैं। संसार का कोई ज्ञान, कोई अनुभव, कोई भाव, कोई पदार्थ, कोई-तत्त्व, कोई शक्ति ऐसी नहीं जो इस परमात्म-शक्ति के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हो।

जब मन को बहुत सन्तोष, समाधान मालूम होता है, उस अवस्था को वास्तविक सुख की अवस्था कह सकते हैं। सन्तोष जब उग्रता धारण करने लगता है तब उस अवस्था को आनन्द कह सकते हैं। आनन्द या शोक, ये दोनों सिरे की अवस्थाएं हैं और सुख मध्यम अवस्था है। इसका सम्बन्ध चित्त के उद्रेक से नहीं, बल्कि समता से है। चित्त की अत्यन्त सम अवस्था में ही मनुष्य को पूर्ण सन्तोष, समाधान या सुख अनुभव होता है। जब हम किसी भी निमित्त से अत्यन्त

एकाग्रता या तन्मयता का अनुभव करते हैं तो उस समय हमारे मन की अवस्था बहुत समता में रहती है। अतः जब किसी कारण से मन चंचलता या विकार को छोड़कर स्थिरता या समता का अनुभव करने लगता है तब उसे सुख का ही अनुभव कहना चाहिए। इसके विपरीत दुःख का अनुभव हमें तब होता है जब हमारा मन किसी धक्के से अपनी साम्यावस्था छोड़कर डांवाडोल होता है और एक सिरे से दूसरे सिरे तक लौट लगाता है। हम यह कह सकते हैं कि चित्त की समता सुख की व व्याकुलता दुःख की अवस्था है। आपके पास सुख के तमाम सामान मौजूद हों, पर यदि आपका मन शान्त, स्थिर, स्वस्थ या सम अवस्था में नहीं है तो ये सामान आपको सुख नहीं पहुँचा सकते। इसके विपरीत यदि दुःख या कष्ट की अवस्थाओं में आप हों, पर यदि आपका मन स्थिर व शान्त है तो आप उस दुःख को अनुभव नहीं करेंगे। उसका असर आप पर नहीं होगा।

इसका अर्थ यह हुआ कि यदि सचमुच हम अपने जीवन का उद्देश्य पूर्ण करना चाहते हैं या यों कहें, सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें और साधनों की अपेक्षा या उनके साथ-ही-साथ अपने मन पर सबसे अधिक प्रभाव डालना है। हमे उन तमाम मानसिक गुणों और शक्तियों को प्राप्त करना होगा जो हमारे चित्त को समता, स्थिरता, शान्तता तक पहुँचा सकें। तब तो आप इसका सरल जवाब दे सकते हैं कि यदि मनुष्य केवल मन की कल्पना या भावना से ही सुखी हो सकता है तो बाहरी सुख-साधनों और विषयो को छोड़कर वह अपने मन के विचारों व तरंगों में ही मस्त रहे। इससे न उसे इन तमाम साधनों के जुटाने का प्रयास ही करना पड़ेगा, बल्कि अपने मन को शान्त व स्थिर रखने का बहुत कुछ अवसर मिल जायगा। परन्तु बात ऐसी नहीं है। सुख के लिए बाहरी साधनों की यद्यपि प्रधानता स्वीकृत नहीं की जा सकती, तथापि उनकी आवश्यकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। जरूरत सिर्फ उन साधनों के सम्यक् या भलीभांति उपयोग करने की है। कोई

साधन स्वयं सुख या दु:ख का कारण नहीं होता है। वीणा, अंगूर, स्वयं सुख या दुःखदायी नहीं होते। उनके उपयोग पर ही हमारा सुख-दुःख निर्भर है। सुख वास्तव में एक ही है, सांसारिक और आत्मिक दो तरह का नहीं है। जिसे हम सांसारिक सुख कहते हैं, वास्तव में वह सुख का साधन है, व जिसे हम आत्मिक या मानसिक सुख कहते हैं, वही वास्तविक सुख है। हमारी सबसे बड़ी गलती यही है कि हमने सुख के साधन को ही एक स्वतन्त्र सुख मान लिया है। ऊपर हमने मनुष्य के जीवन-उद्देश्य के रूप में जिस धन, वैभव, कीर्त्ति, पुत्र, मान-प्रतिष्ठा आदि का जिक्र किया है, वे सच पूछिये तो स्वयं सुख-रूप नहीं हैं, बल्कि सुख के निमित्त या साधन ही हैं। अतएव जो मनुष्य इनको जीवन का लक्ष्य मानता या बनाता है, वह सुख को छोड़कर सुख के साधन को अपनाने की भूल करता है। असली स्वामिनी को भूलकर या छोड़कर नकली के पीछे पागल होने जैसा है।

बहस की बात : ६

सियारामशरण गुप्त

बहुत गम्भीर समस्या थी। एक सज्जन कह रहे थे—यह घर पूर्व दिशा में है। दूसरे सज्जन का कहना था—ऐसा हो नहीं सकता। अपने गले के जोर से उस घर को उठाकर ठेठ पश्चिम में रख देने की इच्छा उनकी थी। एक अंग्रेज कवि के पूर्व और पश्चिम की तरह इन दोनों का यह दिक्-विपर्यय किसी एक दूसरे से मिलना ही न चाहता था। अपने मध्य-केन्द्र को बहुत पीछे छोड़कर बात गरमा-गरमी और तेजी से आगे बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस में मिल सकता था, परन्तु उनके मन नहीं। वे दक्षिणी और उत्तरी ध्रुव की अपेक्षा भी दूर होते जा रहे थे। ऐसे विकट प्रसंग में उस घर का प्राण-संकट टालकर एक तीसरे सज्जन ने बताया कि यह घर आपके यहाँ से पूर्व है और आपके यहाँ से पश्चिम। अतएव सही हैं तो आप दोनों और गलत हैं तो आप दोनों। परिणाम यह हुआ कि इस तरह न तो पूर्व को पश्चिम में जाना पड़ा और न पश्चिम को पूर्व में। चरम परिपाक के बिना ही वह बहस यहीं शान्त हो गई—कम-से-कम ऊपर से तो हो ही गई।

डर मुझे यह है कि अपने पाठक को मैंने नाराज कर दिया। मैं झूठ बोला इसकी तो कोई बात नहीं। झूठ बोलना तक मुझे नहीं आया, इसकी शिकायत अवश्य की जायगी। बहस कभी बिना बात-की-बात

पर चल पड़ती है, यह मान लिया जायगा ; परन्तु क्या ऐसा भी कोई हो सकता है, जो पूर्व और पश्चिम जैसे स्वयं प्रकाशित विषय को लेकर मरने-मारने को तैयार था—इस पर फिर एक नई बहस उठ खड़ी होगी। उठ खड़ी हो, मैं अपनी बात से पीछे हटना नहीं चाहता।

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसी ने दिन मे ही सूर्य की यह मशाल जला रक्खी है। पर इसीके साथ उतना ही ठीक क्या यह नहीं है कि उसीने इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रक्खा है? दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रत्युत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। तब फिर पूर्व और पश्चिम के लिए पूर्वोक्त सज्जनों का इस प्रकार झगड़ पड़ना कुछ अनहोनी बात नहीं। देखा जाय तो हममे कदाचित् ही कोई निकले जो इस पूर्व और पश्चिम के झगड़े मे ठीक इसी प्रकार लिप्त न हो। यह दूसरी बात है कि अपनी भिन्न-भिन्न बोलियों में इन्हें हम और कुछ कहते हों। मिट्टी हो, कंकड़ हो, पत्थर हो, कुछ क्यो न हों—इसके विग्रह की प्राणप्रतिष्ठा उसीमे कर दी जाती है। कैसे की जाती है, यह बताने के लिए अनेक आचार्यों ने बड़े-बडे ग्रन्थ रच डाले हैं। इसकी शिक्षा के लिए हमारे विश्वविद्यालय भी कम सक्रिय नहीं। इस अचिर जीवन का केवल आधा ही लेकर अपने प्रमाण-पत्र के साथ वे हमें छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राज-दरबार मे जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयों में जितने मामले पहुँचते हैं, उनमे अधिकांश इन सम्मुख-विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नये नये आदर्श अथवा साँचे हैं।

न्यायालय ही नहीं, हमारा यह महाभारत रात-दिन सर्वत्र चला करता है। इसके लिए अठारह अक्षौहिणी की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक और एक दो, बस इतनी ही संख्या पर्याप्त है। कोई दूसरा न हो तो अकेले अपने आप भी हम यह कसरत कर सकते हैं; परन्तु रूखी

रोटी की तरह अकेले-अकेले की यह कसरत हमारे मानसिक आहार में अनाहार से अधिक नहीं। कदाचित् इसी कारण काल कोठरी की सजा वर्तमान समय की एक बहुत बड़ी सजा है। तो हाँ, जहाँ हम दो एकत्र हुए, एक कहता है—"यह बात ऐसी है", दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—"नहीं, यह बात ऐसी हो नहीं सकती।" दूसरे का यह उत्तर इतना स्वाभाविक, अतः तर्क-संगत है कि प्रसंग को कुछ जाने-समझे बिना हम भी उसे अपना मत दे सकते हैं। भला बताइए, वैसा हो कैसे सकता है जबकि वैसा हो सकने की बात पहले ही कोई कह चुका हो!

यह तर्क या बहस प्रारम्भ हुई नहीं कि एक बड़ा जन-समूह तुरन्त हमारे आस-पास इकट्ठा हो जाता है। किसके पैर में कितनी तेजी है, इसके निर्णय का एकमात्र समय यही है। इसके आगे की बात शिष्ट पाठक को सहन न होगी, इसीसे अस्पृश्य समझकर यहीं छोड़ी जाती है।

परन्तु इस तर्क-प्रसंग को मेरे अस्पृश्य समझ लेने से इसका कुछ नहीं बिगड़ता। संसार के अधिकांश युद्धों का उद्गम इसीके भीतर मिलेगा। वे होते ही रहते हैं। वहाँ आरम्भ में एक कहता है—"ऐसा।" दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—"ऐसा हर्गिज नहीं!" बस इसीके बाद सेना, सैनिक, सेनापति और उनकी तलवार, तोप और गोले। संसार के इतिहास का सबसे रोचक अध्याय यही है।

तो हाँ, जब किसी एक को अस्पृश्य कहकर छोड़ दिया गया है, तब किसी दूसरे को ब्राह्मण कहना ही पड़ेगा, किन्तु बहुत शुद्धाचारी और तपस्वी होने के कारण यह ब्राह्मण तर्क सबके लिए ग्राह्य नहीं जान पड़ता। बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कहीं किसीको चोट न लग जाय तो भला यह भी कोई बात हुई। सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसका काम ही मारना, मरना और फिर-फिर जी उठना है। इक्कीस-इक्कीस बार इसे निर्वंश ही क्यों न कर दो, फिर भी जब देखो, तब इसका वही तेज। साहित्यिक ने व्यंग्य और व्यञ्जना के आवरण

में कोमल करके इसे वैश्य वर्ण में लाने का यत्न किया है; परन्तु वहाँ भी इसका जन्मगत जातीय गुण देर तक छिपा नहीं रहता।

पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है, नहीं तो आरोप किया जायगा कि लेखक को बहस में मुँह की खानी पड़ी है, इसीसे छिपे-छिपे वह तर्क की निन्दा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने में ही हार सकती है, बहस अथवा तर्क करने में नहीं।

वास्तव में जीभ की महिमा है ऐसी ही। विधाता ने हमें आँख, कान, हाथ, पैर ये सब दो-दो की संख्या में दिये हैं। तब प्रश्न उठता है, जीभ ही उसने हमें एक क्यों दी? नाक भी उसने एक ही दी थी। जान पड़ता है, बाद में उसे इसमें अपनी भूल मालूम हुई। इसीसे उसके बीचोंबीच उसने एक दीवार खड़ी करके एक को दो में बदल दिया है। चाहता तो वह जीभ के लिए भी किसी ऐसे ही संशोधन का प्रबन्ध कर सकता था; परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी पर भी यह प्रयोग करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी। तब यह क्यों न माना जाय कि जीभ के एक रखने में उसका कुछ विशेष हेतु था? इसे उसकी कोरी भूल समझने से काम न चलेगा।

निश्चय ही जीभ का दो होना ठीक न होता। इस समय सांप के द्विजिह्व होने की बात कहकर मैं अपना समर्थन नहीं करना चाहता। यह कहकर भी नहीं कि उस अवस्था में खाद्य पदार्थ और भी दुर्लभ हो जाते। मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जीभ के संख्या में दो होने पर तर्क अथवा बहस करने के लिए किसीको किसी अन्य की आवश्यकता न रहती। उस समय कोई भी हिमालय की निर्जन कन्दराओं में जाकर किसी दूसरे की सहायता के बिना ही अपना काम चला लेता। मनुष्य की एक जीभ कहती—"मीठा"। दूसरी तुरन्त प्रत्युत्तर करती—"नहीं, कड़ुआ!" इस प्रकार अपने आपमें ही आनन्द-रस के दोनों स्वाद पाकर मनुष्य में जिस अनपेक्षित स्वार्थपरता

का उदय होता, उससे क्या हमारे इस बहु विचित्र संसार के असंख्य ही टुकड़े न हो जाते ? दूसरों का हित करने के लिए उस समय न तो हमें किसी सभा में उपस्थित होने की आवश्यकता पड़ती और न किसी दूसरे का ग्रन्थ पढ़कर उसकी समालोचना लिखने की। न प्रजा के चीत्कार का अस्तित्व होता, न राजा की एकान्त कालकोठरी का। सचमुच ही यह बहुत बुरा होता। इसी सबके कारण तो हमारा कर्म-मुखरित संसार इतना प्रिय और मधुर है !

तर्क अथवा बहस ही वह वस्तु है, जो हमारे मन में, अनजाने ही सही, यह बोध उत्पन्न करती है कि हमें छोड़कर भी किसी और को होना चाहिए। यह और कोई ऐसा है, जिसके बिना हमारा जीवन नीरस हो जाता। ऊपर से उस पर हम प्रहार ही क्यों न करें, भीतर से प्यार तो उसे करते ही हैं। मनुष्य में वाणी ही उसका सबसे बड़ा वैभव है। आँख, वह हमसे अधिक गीध में है। कान घोड़े और गधे के भी हमसे बहुत बड़े हैं। कुत्ते की घ्राण शक्ति की बराबरी तो हम कर ही नहीं सकते। दौड़ने की बात आती है, तब मृग का पशुत्व भूलकर, उसीकी काल्पनिक समता में गौरव का अनुभव करना पड़ता है। जो बात कहीं दूसरे में नहीं मिलती, वह है हमारी वाणी। अतएव जब हम किसीकी बात सुनते हैं तो स्वभावतः हमें यह अनुभूति होती है कि यह अपने उसी बड़प्पन की घोषणा कर रहा है। उसका महत्त्व खण्डित करके अपना महत्त्व स्थापित कर देना ही बहस की मनोवृत्ति का कारण है। इसका काम है, महत्त्वाकांक्षा की वृद्धि करके हमें और भी बड़ा कर देना। बैलों में जब यह वृत्ति पैदा होती है तो वे सींग चला देने के सिवा किसी दूसरे ढंग की बहस नहीं करते। मनुष्य की जीभ बिना सींग के सींग तो चला ही लेती है, और भी उसके लिए बहुत-सी बातें आसान हैं। सच पूछो तो दूसरे प्राणियों को विधाता का जिह्वा-दान उसके बड़े-से-बड़े अपव्ययों में से एक है।

परन्तु अब और कुछ लिखने को जी नहीं करता। जीभ की स्तुति

जीभ चलाकर ही की जा सकती है, लेखनी चलाकर नहीं। इन बातों को काटकर कुछ कहनेवाला कोई दूसरा होता तब भी कुछ बात थी। यदि किसी दूसरे ने यह सब कहा होता तो वह कठिन काम मैं स्वयं स्वीकार कर लेता। पर अब तो बाहर जाकर ही जीभ की यह प्यास मिट सकेगी। मैंने जिसे पूर्व कह दिया है, उसे पूर्व ही कहता जाऊँ, तब यह असम्भव है कि उसे पश्चिम कहनेवाला कोई न मिल सके। हम दो के बीच में भी कोई ऐसा आ पड़ा, जो मेरे पूर्व को पूर्व ही रहने दे और दूसरे के पश्चिम को पश्चिम, तो भी हानि नहीं है। चतुर माली द्वारा कुछ काट-छीलकर एक में बाँधी गई भिन्न-भिन्न वृक्षों की दो शाखाएँ एकरस हो सकती हैं और हो जाती हैं; पर मेरे में मेरा फूल खिलेगा, दूसरे में दूसरे का। इसमें अन्तर आना असम्भव है।

राम की युद्ध-नीति : १०

जैनेन्द्रकुमार

इस महादेश की संस्कृति के दो ध्रुव हैं—राम और कृष्ण। रामायण और महाभारत उन्हींके चरित कहिए। इन दो ग्रन्थों के स्तम्भों पर चालीस कोटि मानवों की शताब्दियों का भाग्य दिया है।

माना जाता है कि यह संस्कृति विरागमय है। जीवन-दृष्टि उसकी निवृत्तिमूलक है। ब्रह्म सत्य और जग उसे मिथ्या है। महापुरुष उसे वह है जो संसार से विमुख एकांत में आत्मा की जय साधता है। संसार उसे प्रपंच और मुक्ति ध्येय है। हर कीमत पर वह शांति चाहता है। अहिंसा उसे परम धर्म है। एक शब्द में, वह संस्कृति आधिभौतिक के विरोध मे आध्यात्मिक है।

और यह ग़लत भी नहीं है। भारत की विशेषता उसका इह लोक पर परलोक को प्रमुखता देना ही है।

पर उसी संस्कृति ने राम और कृष्ण को भगवान् माना है और वे दोनों ही दो महायुद्धों के नायक हैं।

इस ऊपरी विरोध के भीतर जाकर उसके अर्थ को देखना होगा। यह सच है कि भारत ने बड़े योद्धा को प्रतिष्ठा नहीं दी। चक्रवर्ती को भुला दिया और संत की वाणी को उसने याद रखा। महाविकट युद्ध एक दुःस्वप्न की विभीषिका से अधिक उसके लिए कुछ नहीं रहा। वह होकर बीत गया और भारत के जीवन पर कोई विकृति नहीं छोड़

गया। पर यह उससे भी अधिक सच है कि उसके मर्यादापुरुष राम हुए और कृष्ण हुए, जो वन के महात्मा नहीं, राज्यों के निर्माता थे और जो शांति में और समाधान में नहीं, वरन् युद्ध में और समस्याओं में जिये। कारण, भौतिक के घमसान में उन्होंने अध्यात्म के समत्व की और जगत्कर्म की विपुलता में ब्रह्मत्व की साधना सिद्ध की।

राम राजा थे; पर भगवान् हैं। यानी राजा के रूप में वह व्यतीत हुए, भगवान्-रूप में ही वह शाश्वत होकर वर्तमान हैं।

देखना चाहिए कि क्या उनके युद्ध में भी भागवत-भाव देखा जा सकता है ?

वह युद्ध भौतिक था, लेकिन वह धर्मयुद्ध होकर ही भगवान् राम का बना। अपने राज-कर्म और व्यक्ति-कर्म में वह समष्टि चेतना से परिचालित थे—हिन्दू विश्वास ऐसा ही है। उसके निकट श्रीराम के कर्म पर समय की और स्थिति की इयत्ता नहीं है। मानो उनका युद्ध रावण नामक किसी व्यक्ति से न था, वह तो पुंजीभूत असत् के प्रतीक रावण से था। भारत का समाज शताब्दियों के भीतर से इसी अवस्था में रामचरित के चहुँ ओर इतना कुछ जुटाता रहा है कि अमुक समय और देश में हुए इतिहासी राम काल-देश की सीमा से मुक्त होकर त्रिकाल-त्रिलोक के पुरुषोत्तम राम हो गये हैं। उनका चरित ऐतिहासिक बोध का नहीं, जिज्ञासु के निकट आत्म-शोध का ही साधन बन उठा है। मानो कभी कहीं हुए वह राजा इतने नहीं, जितने कि घट-घटवासी राम हैं।

यह कैसे हुआ ?

सामान्यत: आत्म-क्षेत्र और जगत्-क्षेत्र दो हैं। आत्म-जेता यम-नियम और दम-संयम के अस्त्रों से लड़ते हैं। वे धन-मान और बंधु-बांधव छोड़ अकेले बनते हैं। जगत्-योद्धा तीर-तलवार और दल-बल से लड़ते हैं और सत्ता-प्रभुता का विस्तार चाहते हैं। एक अहिंसा साधते, दूसरे स्पर्धा ठानते हैं।

दोनों की दो राहें हैं और उलटी हैं।

अब, नहीं कहा जा सकता कि लंका में लहू नहीं बहा। वहां शासक-कुल में विभीषण के सिवा कौन दूसरा बच पाया ? ऐसे युद्ध के प्रेरक होकर राम फिर आर्य-संस्कृति के मान्य कैसे हुए ?

यहां यह कहना कि राम-चरित का युद्ध यथार्थ नहीं, सिर्फ़ रूपक है, बात से बचना होगा। रूपक तो वहां है ही। क्योंकि राम में प्रभु राम की प्रतिष्ठा के लिए रूपक तो आना ही था और भगवान् राम से लड़नेवाले रावण के लिए दस सिर और बीस भुजाओंवाला अतिमानव भी बन उठना अनिवार्य था, जिससे भगवत्-युद्ध अनीति के प्रतीक राक्षस से ही हो, अन्य किसीसे नहीं।

पर इस सब लोकमान्यता और काव्यातिशय के, 'माइथालाजी' के, पार होकर विवेचक को राम की युद्ध-नीति को परख में लाना होगा। जानना होगा कि विजेता होकर भी सिकन्दर और 'सीज़र' को जिस मान से नापा जाता है, उससे राम को हम क्यों नहीं नाप पाते ? क्यों वह नाप वहां ओछा पड़ जाता है ? राजा होकर, लड़कर, जीतकर, अश्वमेध रचाकर, ऐश्वर्य से मण्डित होकर भी राम धर्म के शीर्ष और अध्यात्म के आदर्श कैसे बने हुए हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में उनकी युद्ध-नीति को परखना आवश्यक है। उस युद्ध की पृष्ठभूमि यह है—अयोध्या के निर्वासित राजकुमार राम, अकिंचन, देह पर छाल पहने, पत्नी और भाई के साथ वन-पर्वत भटकते, फल-मूल खाते, सुदूर दक्षिण पहुंचे हैं। अयोध्या से वह जगह हज़ारों कोस के अंतर पर है। सत्ता का या उसकी महिमा का अंश भी यहां उनके साथ नहीं है। वनजीवी हैं और पशुओं से स्नेह पाकर रहते हैं।

ऐसे समय रावण उनकी सीता को ले जाता है। रावण लंका का राजा है। वह अतुल बलशाली है। वह नराधिप है, राम नर-मात्र। वह सत्ता-सम्पन्न है, राम एकाकी हैं। वह दुर्ग की रक्षा में है, राम वन-चारी हैं।

इन दो शक्तियों में युद्ध होता है। कारण बनता है सीता का अपहरण। सीता राम की भार्या हैं, इसलिए नहीं, बल्कि लंकाधीश बल के मद में उन्हें बंदी बनाये हुए है, इसलिए राम को लड़ना पड़ता है।

इस पृष्ठभूमि पर से उस युद्ध के बारे में हम ये परिणाम निकाल सकते हैं—

१. युद्ध का राजनैतिक हेतु न था।

२. राजनीति की ओर से राम सत्ता-शून्य थे। इससे आत्मधर्म के नाते राम युद्ध में उतरे।

३. साधनहीन होकर सत्ताधीश से युद्ध ठानने में उन्होंने उपकरण को हीन और संकल्प को सब कुछ माना।

४. वेतन-भोगी सेना उनके पास न थी।

५. नैतिक शक्ति उनकी शक्ति थी। अपने पक्षवालों को पुरस्कार, पद या प्रतिदान देने के बल पर सैन्य-संग्रह उन्होंने नहीं किया।

६. युद्ध का नेतृत्व उन पर लौकिक प्रभुता नहीं, नैतिक निष्ठा और उच्चता के कारण आया और समूचा युद्ध उनकी ओर से उसी भूमिका पर रहकर चला।

युद्ध में राम की विजय का सम्पूर्ण नहीं तो अधिकांश कारण ऊपर की इस भूमिका में आ जाता है। उससे प्रकट है कि उनकी युद्ध-नीति का सबसे प्रधान अंश इस निश्चय में था कि युद्ध का हेतु केवल और शुद्ध नैतिक ही है। वह तनिक भी लालसा, सत्ता और सम्पत्ति का युद्ध नहीं है।

आधार में इस धर्म-नीति की भूमिका का निश्चय होने के अनन्तर आगे भी उसकी निरंतर रक्षा हो—राम की युद्ध-नीति की दूसरी चिन्ता यह मालूम होती है। यानी युद्ध का हेतु धार्मिक हो। इतना ही नहीं, उसकी प्रक्रिया और प्रतिक्रिया भी अनुरूप हो, यह भी उनकी युद्ध नीति के विचार में गर्भित था। साध्य की शुद्धता परखने के बाद साधकोंको अनुकूल शुद्ध रखनेकी ओर वह युद्ध-नीति सावधान थी।

युद्ध लड़ने की इच्छा पर राम में सदा उससे बचने की इच्छा की प्रधानता रही। यानी युद्ध उनकी ओर से शान्ति-चेष्टा का ही अंग था। युद्ध के बीच भी उनकी नीति संधि का मार्ग खोजती रही थी। यानी युद्ध-नीति भीतर से शांति-नीति से भिन्न न हो पाय, इसका ध्यान राम को था। अंगद उनकी ओर से रावण के पास सन्धि के लिए कुल इतनी शर्त ले गए थे कि सीता वापस लौटा दी जाय। लंकाधिपति के स्वत्व पर, प्रतिष्ठा पर, यहाँ तक कि मत-मान्यता पर किसी प्रकार के आरोप की बात उनकी युद्ध-नीति में नहीं आती थी।

युद्ध में विजय निकट दीखी तो भी आरम्भिक मांग को और उसके मूल हेतु को बढ़ाया नहीं गया, यानी आवेश और आकांक्षा का उस युद्ध-नीति से सम्बन्ध न था और विजय में अवसर देखने की वृत्ति न थी। विजय होने पर लंका के राज्य से अधिपतित्व का या और किसी तरह की प्रभुता का सम्बन्ध राम ने नहीं स्थापित किया। रावण के कुटुम्बी-जन विभीषण लंका के राजा हुए। विजेता ने कोई अपना स्वार्थ विजित देश मे नहीं पैदा किया। किसी संधि के अनुसार लंका को अवध के प्रति झुकने की आवश्यकता कभी न हुई।

सैन्य-संचालन आदि के बारे में राम की युद्ध-नीति आत्यन्तिक उदासीनता की थी। यह उदासीनता प्रखर योद्धा राम की जय में कम महत्त्व की वस्तु न थी। वह काम तो सुग्रीव और लछमण का था। वह पक्ष मानो असल युद्ध-नीति से उनके निकट असंगत था। निश्चय उस सम्बन्ध में गुप्त भेद या छल-प्रयोग के वह विरुद्ध थे। युद्ध सीधा और ईमानदार और जान हथेली पर लेकर हो, इस पर उनका आग्रह था। रण में वह स्वयं सैनिक थे, पीछे से आज्ञा देनेवाले सेनानी ही नहीं।

यह भी प्रमाणित है कि शत्रु के प्रति वह सहज सहानुभूति से काम लेते थे। यथाशक्ति हिंसा से बचते थे। एक की जान पर वह इतने भावुक हो सकते थे कि समूचा युद्ध उन्हें व्यर्थ लग आए। यह

व्यथा ही रण में उनके बल का मूल थी।

इस प्रकार युद्ध की प्रेरणा और हेतु में शुद्ध अराजनैतिक और धर्म-नैतिक भावना का निश्चय, संहार की सैन्य-कला के सम्बन्ध में आत्यन्तिक उदासीनता, शत्रु के प्रति मानवीय सहानुभूति और शांति के मार्ग की सतत शोध—ये उनकी युद्ध-नीति के मुख्य अंग कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि वह युद्ध विजेता हैं और धर्मावतार भी हैं। उनके उदाहरण में धार्मिक और राजनैतिक—दोनों पक्ष के नेताओं के लिए प्रकाश है।

रामा : ११

महादेवी वर्मा

रामा हमारे यहां कब आया, यह न मैं बता सकती हूँ और न मेरे भाई-बहन। बचपन में जिस प्रकार हम बाबूजी की विचित्रताभरी मेज से परिचित थे जिसके नीचे दोपहर के सन्नाटे में हमारे खिलौनों की सृष्टि बसती थी, अपने लोहे के स्प्रिंगदार विशाल पलंग को जानते थे जिस पर सोकर हम कच्छमत्स्यावतार जैसे लगते थे और मां के शंख-घड़ियाल से घिरे ठाकुरजी को पहचानते थे जिनका भोग अपने मुंह में अन्तर्धान कर लेने के प्रयत्न में हम आधी आंखें मींचकर बगुले के मनोयोग से घण्टी की टन-टन गिनते थे, उसी प्रकार नाटे, काले और गठे शरीरवाले रामा के बड़े नखों से लम्बी शिखा तक हमारा सनातन परिचय था।

सांप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गांठदार टहनियों जैसी उँगलियोंवाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी, क्योंकि मुँह धोने से सोने के समय तक हमारा उनसे जो विग्रह चलता रहता था, उसकी अस्थायी सन्धि केवल कहानी सुनते समय होती थी। दस भिन्न दिशाएं खोजती हुई उँगलियों के बिखरे कुटुम्ब को बड़े-बूढ़े के समान संभाले हुए काले स्थूल पैरों की आहट तक हम जान गए थे, क्योंकि कोई नटखटपन करके हौले से भागने पर भी वे मानो पंख लगाकर हमारे छिपने के स्थान में आ पहुँचते थे।

शैशव की स्मृतियों में एक विचित्रता है। जब हमारी भावप्रवणता गम्भीर और प्रशान्त होती है तब अतीत की रेखाएं कुहरे में से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्ट से स्पष्टतर होने लगती हैं, पर जिस समय हम तर्क से उनकी उपयोगिता सिद्ध करके स्मरण करने बैठते हैं उस समय पत्थर फेंकने से हटकर मिल जानेवाली, पानी की काई के समान विस्मृति उन्हें फिर-फिर ढक लेती है।

रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहे और छोटी-छोटी स्नेह-तरल आंखें कभी-कभी स्मृतिपट पर अंकित हो जाती हैं और धुंधली होते-होते एकदम खो जाती हैं। किसी थके झुंझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक, सांस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हंसी से भरकर फूले हुए से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली मे दही की याद दिलानेवाली सघन और सफेद दन्तपंक्ति के संबन्ध में भी यही सत्य है।

रामा के बालों को तो आध इंच से अधिक बढ़ने का अधिकार ही नहीं था इसीसे उसकी लम्बी शिखा को साम्य की दीक्षा देने के लिए हम कैंची लिये घूमते रहते थे। पर वह शिखा तो म्याऊं का ठौर थी; क्योंकि न तो उसका स्वामी हमारे जागते हुए सोता था और न उसके जागते हुए ऐसे सदनुष्ठान का साहस कर सकते थे।

कदाचित् आज कहना होगा कि रामा कुरूप था; परन्तु तब उससे भव्य साथी की कल्पना भी हमें असह्य थी।

वास्तव मे जीवन सौन्दर्य की आत्मा है; पर वह सामञ्जस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता मे नहीं। जैसे-जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता मे उलझते जाते हैं, वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं। बालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नहीं होता, इसीसे वह केवल जीवन को पहचानता है। पहचानता है। जहां उसे जीवन से स्नेह-सद्भाव की किरणें फूटती जान पड़ती हैं, वहां वह व्यक्त विषम रेखाओं की उपेक्षा कर डालता है

और जहां द्वेष-घृणा आदि के भ्रम से जीवन रुका रहता है वहां वह बाह्य सामञ्जस्य को भी ग्रहण नहीं करता।

इसीसे रामा हमें बहुत अच्छा लगता था। जान पड़ता है, उसे भी अपनी कुरूपता का पता नहीं था, तभी तो वह केवल एक मिर्जई और घुटनों तक ऊंची धोती पहनकर अपनी कुडौलता के अधिकांश की प्रदर्शनी करता रहता था। उसके पास सजने के उपयुक्त सामग्री का अभाव नहीं था; क्योंकि कोठरी में अस्तर लगा लम्बा कुरता, बंधा हुआ साफा, बुन्देलखण्डी जूते और गँठीली लाठी किसी शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करते जान पड़ते थे। उनकी अखण्ड प्रतीक्षा और रामा की अटूट उपेक्षा से द्रवित होकर ही कदाचित् हमारी कार्यकारिणी समिति में यह प्रस्ताव नित्य सर्वमत से पास होता रहता था कि कुरते की बाहों में लाठी को अटकाकर खिलौनों का परदा बनाया जावे, डलिया जैसे साफे को खूंटी से उतार कर उसे गुड़ियों का हिंडोला बनने का सम्मान दिया जावे और बुन्देलखण्डी जूतों को हौज में डालकर गुड्डों के जल-विहार का स्थायी प्रबन्ध किया जावे। पर रामा अपने अंधेरे दुर्ग के चर्रमर्र मे डाटते हुए द्वार को इतनी ऊंची अर्गला से बन्द रखता था कि हम स्टूल पर खड़े होकर भी छापा न मार सकते थे।

रामा के आगमन की जो कथा हम बड़े होकर सुन सके, वह भी उसीके समान विचित्र है। एक दिन जब दोपहर को माँ बड़ी—पापड़ आदि के अक्षयकोष को धूप दिखा रही थीं तब न जाने कब दुर्बल और क्लांत रामा आँगन के द्वार की देहली पर बैठकर किवाड़ से सिर टिकाकर निश्चेष्ट हो रहा। उसे भिखारी समझ जब उन्होंने निकट जाकर प्रश्न किया तब वह 'ए मताई ए रामा तो भूखन के मारे जो चलो'—कहता हुआ उनके पैरों पर लोट गया। दूध-मिठाई आदि का रसायन देकर मां जब रामा को पुनर्जीवन दे चुकीं तब समस्या और भी जटिल हो गई; क्योंकि भूख तो ऐसा रोग नहीं जिसमें उपचार का क्रम टूट सके।

वह बुन्देलखण्ड का ग्रामीण बालक विमाता के अत्याचार से भागकर मांगता-खाता इन्दौर तक जा पहुँचा, जहां न कोई अपना था और न रहने का ठिकाना। ऐसी स्थिति में रामा यदि माँ की ममता का सहज ही अधिकारी बन बैठा तो आश्चर्य क्या।

उस दिन संध्या समय जब बाबूजी लौटे तब लकड़ी रखने की कोठरी के एक कोने में रामा के बड़े-बड़े जूते विश्राम कर रहे थे, दूसरे में लम्बी लाठी समाधिस्थ थी, और हाथ मुंह धोकर नये सेवा-व्रत में दीक्षित रामा हक्का-बक्का-सा अपने कर्त्तव्य का अर्थ और सीमा समझने में लगा हुआ था।

बाबूजी तो उसके अपरूप रूप को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो गए। हँसते-हँसते पूछा, "यह किस लोक का जीव ले आए हैं, धर्मराज जी?" मां के कारण हमारा घर अच्छा खासा ज़ू (चिड़ियाघर) बना रहता था। बाबूजी जब लौटते तब प्रायः कभी कोई लँगड़ा भिखारी बाहर के दालान में भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खंजड़ी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र बालक नया कुरता पहनकर आँगन में चौकड़ी भरता दिखाई देता और कभी कोई बूढ़ा ब्राह्मणी भंडार-घर की देहली पर सीधा गठि-याते मिलती।

बाबूजी ने माँ के किसी कार्य के प्रति कभी कोई विरक्ति नहीं प्रकट की; पर उन्हें चिढ़ाने में वे सुख का अनुभव करते थे।

रामा को भी उन्होंने क्षणभर का अतिथि समझा, पर माँ शीघ्रता में कोई उत्तर न खोज पाने के कारण बहुत उद्विग्न होकर कह उठीं, "मैंने खास अपने लिए इसे नौकर रख लिया है।"

जो व्यक्ति कई नौकरों के रहते हुए भी क्षणभर विश्राम नहीं करता, वह अपने लिए नौकर रखे, यही कम आश्चर्य की बात नहीं, उस पर ऐसा विचित्र नौकर। बाबूजी का हँसते-हँसते बुरा हाल हो गया। विनोद से कहा, "ठीक ही है, नास्तिक जिनसे डर जावें ऐसे खास साँचे में ढले

सेवक ही तो धर्मराजजी की सेवा में रह सकते हैं।"

उन्हें अज्ञातकुलशील रामा पर विश्वास नहीं हुआ, पर माँ से तर्क करना व्यर्थ होता; क्योंकि वे किसीकी पात्रता-अपात्रता का मापदण्ड अपनी सहज समवेदना ही को मानती थीं। रामा की कुरूपता का आवरण भेदकर उनकी सहानुभूति ने जिस सरल हृदय को परख लिया, उसमें अक्षय सौंदर्य न होगा, ऐसा सन्देह उनके लिए असम्भव था।

इस प्रकार रामा हमारे यहाँ रह गया; पर उसका कर्त्तव्य निश्चित करने की समस्या नहीं सुलझी।

सब कामों के लिए पुराने नौकर थे और अपने पूजा और रसोईघर का कार्य माँ किसीको सौंप ही नहीं सकती थीं। आरती, पूजा आदि के सम्बन्ध में उनका नियम जैसा निश्चित और अपवादहीन था, भोजन बनाने के सम्बन्ध में उससे कम नहीं।

एक ओर यदि उन्हें विश्वास था कि उपासना उनकी आत्मा के लिए अनिवार्य है तो दूसरी ओर दृढ़ धारणा थी कि उनका स्वयं भोजन बनाना हम सबके शरीर के लिए नितांत आवश्यक है।

हम सब एक-दूसरे से दो-दो वर्ष छोटे-बड़े थे, अतः हमारे अबोध और समझदार होने के समय में विशेष अन्तर नहीं रहा। निरन्तर यज्ञ-ध्वंस में लगे दानवों के समान हम माँ के सभी महान् अनुष्ठानों में बाधा डालने की ताक में मँडराते रहते थे, इसीसे वे रामा को, हम विद्रोहियों को वश में रखने का गुरु कर्त्तव्य सौंपकर कुछ निश्चिन्त हो सकीं।

रामा सबेरे ही पूजा-घर साफकर वहाँ के बर्तनों को नीबू से चमका देता। तब वह हमें उठाने आता। उस बड़े पलंग पर सबेरे तक हमारे सिर-पैर की दिशा और स्थितियों में न जाने कितने उलटफेर हो चुकते थे। किसीकी गर्दन को किसीका पाँव नापता रहता था, किसीके हाथ पर किसीका सर्वांग तुलता होता था और किसीकी साँस रोकने के लिए किसीकी पीठ दीवार बनी मिलती थी। सब परिस्थितियों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए रामा का कठोर हाथ कोमलता के

छद्मवेश में, रजाई या चादर पर एक छोर से दूसरे छोर तक घूम आता था और तब वह किसीको गोद के रथ, किसीको कंधे के घोड़े पर तथा किसी को पैदल ही, मुख-प्रक्षालन जैसे समारोह के लिए ले जाता।

हमारा मुँह हाथ धुलाना कोई सहज अनुष्ठान नहीं था; क्योंकि रामा को 'दूध बतासा राजा खाय' का महामंत्र तो लगातार जपना ही पड़ता था, साथ ही हम एक-दूसरे का राजा बनना भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे। रामा जब मुझे राजा कहता तब नन्हे बाबू चिड़िया की चोंच जैसा मुंह खोलकर बोल उठता, "लामा इन्हें कौं लाजा कहते हो?" 'र' कहने में भी असमर्थ उस छोटे पुरुष का दम्भ कदाचित् मुझे बहुत अस्थिर कर देता था। रामा के एक हाथ की चक्रव्यूह जैसी उंगलियों में मेरा सिर अटका रहता था और उसके दूसरे हाथ की तीन गहरी रेखाओंवाली हथेली सुदर्शनचक्र के समान मेरे मुख पर मलिनता की खोज में घूमती रहती थी। इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसीसे मैं साम-दाम-दण्ड-भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझीको राजा कहे। रामा ऐसे महारथियों को संतुष्ट करने का अमोघ मंत्र जानता था। वह मेरे कान में हौले से कहता, "तुमई' बड्डे राजा हौ जू, नन्हे नइयाँ" और कदाचित् यही नन्हे के कान में भी दोहराया जाता; क्योंकि वह उत्फुल्ल होकर मंजन की डिबिया में नन्हीं उंगली डालकर दांतों के स्थान में ओठ मांजने लगता। ऐसे काम के लिए रामा का घोर निषेध था, इसीसे मैं उसे ऐसे गर्व से देखती मानो वह सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला मूर्ख सैनिक हो।

तब हम तीनों मूर्तियाँ एक पंक्ति में प्रतिष्ठित कर दी जातीं और रामा छोटे-बड़े चम्मच, दूध का प्याला, फलों की तश्तरी आदि लेकर ऐसे विचित्र और अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए व्याकुल देवताओं की अर्चना के लिए सामने आ बैठता। पर वह था बड़ा घाघ पुजारी। न जाने किस साधना के बल से देवताओं को आँख मूंद

कर कौवे द्वारा पुआपा पाने को उत्सुक कर देता। जैसे ही हम आँख मूँदते, वैसे ही किसीके मुँह में अंगूर, किसीके दाँतों में बिस्कुट और किसीके ओठों में दूध का चम्मच जा पहुँचता। न देखने का तो अभिनय ही था; क्योंकि हम सभी अधखुली आँखों से रामा की काली-मोटी उँगलियों की कलाबाजी देखते ही रहते थे। और सच तो यह है कि मुझे कौवे की काली, कठोर और अपरिचित चोंच से भय लगता था। यदि कुछ खुली आँखों से मैं काल्पनिक कौवे और उसकी चोंच में रामा के हाथ और उंगलियों को न पहचान लेती तो मेरा भोग का आसन छोड़कर उठ भागना अवश्यम्भावी था।

जलपान का विधान समाप्त होते ही रामा की तपस्या की इति नहीं हो जाती थी। नहाते समय आँख को साबुन के फेन से तरंगित और कान को सूखा द्वीप बनने से बचाना, कपड़े पहनते समय उनके उलटे-सीधे रूपों में अतर्क वर्ण-व्यवस्था बनाए रहना, खाते समय भोजन की मात्रा और भोक्ता की सीमा में अन्याय न होने देना, खेलते समय यथावश्यकता हमारे हाथी, घोड़े, उड़नखटोले आदि के अभाव को दूर करना और सोते समय हम पर पंख-जैसे हाथों को फैलाकर कथा सुनाते-सुनाते हमें स्वप्न-लोक के द्वार तक पहुंचा आना रामा का ही कर्त्तव्य था।

हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उसपर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था। एक दिन दशहरे का मेला देखने का हठ करने पर रामा बहुत अनुनय-विनय के उपरान्त माँ से हमें कुछ देर के लिए ले जाने की अनुमति पा सका। खिलौने खरीदने के लिए जब उसने एक को कन्धे पर बैठाया और दूसरे को गोद में लिया तब मुझे उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा, "उँगरियां जिन छोड़ियो राजा भइया।" सिर हिलाकर स्वीकृति देते-देते ही मैंने उँगली छोड़कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते-भटकते और दबने से बचते-बचते जब मुझे भूख लगी तब रामा का स्मरण

आना स्वाभाविक था। एक मिठाई की दूकान पर खड़े होकर मैंने यथासम्भव उद्विग्नता छिपाते हुए प्रश्न किया "क्या तुमने रामा को देखा है ? वह खो गया है।" बूढ़े हलवाई ने धुँधली आँखों में वात्सल्य भरकर पूछा, "कैसा है तुम्हारा रामा ?" मैंने ओठ दबाकर सन्तोष के साथ कहा, "बहुत अच्छा है।" इस हुलिया से रामा को पहचान लेना कितना असम्भव था, यह जानकर ही कदाचित् वृद्ध कुछ देर वहीं विश्राम कर लेने के लिए आग्रह करने लगा। मैं हार तो मानना नहीं चाहती थी; परन्तु पांव थक चुके थे और मिठाइयों से सजे थालों में कुछ कम निमंत्रण नहीं था, इसीसे दूकान के एक कोने में बिछे टाट पर सम्मान्य अतिथि की मुद्रा में बैठकर मैं बूढ़े से मिले मिठाईरूपी अर्घ्य को स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान् यात्रा की कथा सुनाने लगी।

वहां मुझे ढूँढते-ढूँढते रामा के प्राण कण्ठगत हो रहे थे। सन्ध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुंचा तब मैंने विजयगर्व से फूलकर कहा, "तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो, रामा !" रामा के कुम्हलाये मुख पर ओस के बिन्दु जैसे आनन्द के आंसू ढुलक पड़े। वह मुझे घुमा-घुमाकर सब ओर से इस प्रकार देखने लगा मानो मेरा कोई अंग मेले मे छूट गया हो। घर लौटने पर पता चला कि बड़ो के कोश में छोटों की ऐसी वीरता का नाम अपराध है; पर मेर अपराध को अपने ऊपर लेकर डाँट-फटकार भी रामा ने सही और हम सबको सुलाते समय उसकी वात्सल्य-भरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मैं ही रही।

एक बार अपनी और पराई वस्तु का सूक्ष्म और गूढ़ अन्तर स्पष्ट करने के लिए रामा चतुर भाष्यकार बना। बस फिर क्या था ! कहांसे कौन-सी पराई चीज लाकर रामा की छोटी आंखों को निराश विस्मय से लबालब भर दें, इसी चिन्ता में हमारे मस्तिष्क एकबारगी क्रियाशील हो उठे।

हमारे घर से एक ठाकुर साहब का घर कुछ इस तरह मिला हुआ था कि एक छत से दूसरी छत तक पहुँचा जा सकता था। हाँ,राह एक बालिश्त चौड़ी मुंडेर मात्र थी, जहांसे पैर फिसलने पर पाताल नाप लेना सहज हो जाता।

उस घर के आंगन में लगे फूल पराई वस्तु की परिभाषा में आ सकते हैं, यह निश्चित कर लेने के उपरान्त हम लोग एक दोपहर को, केवल रामा को खिझाने के लिए, उस आकाश-मार्ग से फूल चुराने चले। किसीका भी पैर फिसल जाता तो कथा और ही होती; पर भाग्य से हम दूसरी छत तक सकुशल पहुँच गये। नीचे के जीने की अन्तिम सीढ़ी पर एक कुतिया नन्हे-नन्हे बच्चे लिये बैठी थी, जिन्हें देखते ही हमें वस्तु के सम्बन्ध में अपना निश्चय बदलना पड़ा; पर ज्योंही हमने एक पिल्ला उठाया, त्योंही वह निरीह-सी माता अपने इच्छाभरे अधिकार की घोषणा से धरती-आकाश एक करने लगी। बैठक से जब कुछ अस्त-व्यस्त भाववाले गृहस्वामी निकल आए और शयनागार से जब आलस्यभरी गृहस्वामिनी दौड़ पड़ीं तब हम बड़े असमञ्जस में पड़ गए। ऐसी स्थिति में क्या किया जाता है, यह तो रामा के व्याख्यान में था ही नहीं, अतः हमने अपनी बुद्धि का सहारा लेकर सारा मन्तव्य प्रकट कर दिया। कहा, "हम छत की राह से फूल चुराने आये हैं।" गृहस्वामी हँस पड़े। पूछा, "लेते क्यों नहीं?" उत्तर और भी गम्भीर मिला, "अब कुतिया का पिल्ला चुरायेंगे।" पिल्ले को दबाये हुए जबतक हम उचित मार्ग से लौटें तब तक रामा ने हमारी डकैती का पता लगा लिया था। अपने उपदेश-रूपी अमृत-वृक्ष में यह विषफल लगते देख वह एकदम अस्थिर हो उठा होगा, क्योंकि उसने आकाशी डाकुओं के सरदार को दोनों कानों से पकड़कर अधर में उठाते हुए पूछा, "कहो जू, कहो जू, किते गए रहे?" पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था, इसीसे दांतों से ओठ दबाकर मैंने यह अभूतपूर्व दण्ड सहा और फिर बहुत संयत क्रोध के साथ माँ

से कहा, "रामा ने मेरे कान खींचकर टेढ़े भी कर दिये हैं, और बढ़े भी। अब डाक्टर को बुलाकर इन्हें ठीक करवा दो और रामा को अँधेरी कोठरी में बन्द कर दो।" वे तो हमारे अपराध से अपरिचित थीं और रामा प्राण रहते बता नहीं सकता था, इसलिए उसे बच्चों से दुर्व्यवहार न करने के सम्बन्ध में एक मनोवैज्ञानिक उपदेश सुनना पड़ा। वह अपने व्यवहार के लिए सचमुच बहुत लज्जित था, पर जितना ही वह मनाने का प्रयत्न करता था, उतना ही उसके राजा-भइया को कान का दर्द याद आता था। फिर भी सन्ध्या समय रामा को खिन्न मुद्रा से बाहर बैठा देखकर मैंने 'गीत सुनाओ' कहकर संधि का प्रस्ताव कर ही दिया। रामा को एक भजन भर आता था—"एसो सिय रघुबीर भरोसो" और उसे वह जिस प्रकार गाता था, उससे पेड़ पर के चिड़िया-कौवे तक उड़ सकते थे; परन्तु हम लोग उस अपूर्व गायक के अद्भुत श्रोता थे—रामा केवल हमारे लिए गाता और हम केवल उसके लिए सुनते थे।

मेरा बचपन समकालीन बालिकाओं से कुछ भिन्न रहा, इसीसे रामा का उसमें विशेष महत्त्व है।

उस समय परिवार में कन्याओं की अभ्यर्थना नहीं होती थी। आँगन में गानेवालियां, द्वार पर नौबतवाले और परिवार के बूढ़े से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा मे बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई। बड़ी-बूढ़ियाँ संकेत से मूक गानेवालियों को जाने के लिए कह देतीं और बड़े-बूढ़े इशारे से नीरव बाजेवालों को बिदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।

हमारे कुल में कब ऐसा हुआ, यह तो पता नहीं, पर जब दीर्घकाल तक कोई देवी नहीं पधारीं तब चिन्ता होने लगी; क्योंकि जैसे अश्व

के बिना अश्वमेध नहीं हो सकता, वैसे ही बिना कन्या के कन्यादान का महायज्ञ सम्भव नहीं।

बहुत प्रतीक्षा के उपरान्त जब मेरा जन्म हुआ तब बाबा ने इसे अपनी कुलदेवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित करने के लिए अपना फारसी-ज्ञान भूलकर एक ऐसा पौराणिक नाम ढूंढ लाये, जिसकी विशालता के सामने कोई मुझे छोटा-मोटा घर का नाम देने का भी साहस न कर सका। कहना व्यर्थ है कि नाम के उपयुक्त बनाने के लिए सब बचपन से ही मेरे मस्तिष्क में इतनी विद्या-बुद्धि भरने लगे कि मेरा अबोध मन विद्रोही हो उठा। निरक्षर रामा की स्नेह-छाया के बिना मैं जीवन की सरलता से परिचित हो सकती थी या नहीं, इसमें सन्देह है। मेरी पट्टी पुज चुकी थी और मैं, 'आ' पर उँगली रखकर आदमी के स्थान मे, आम, आलमारी, आज आदि के द्वारा मन की बात कह लेती थी। ऐसी दशा में मैं अपने भाई-बहनों के निकट शुक्राचार्य से कम महत्त्व नहीं रखती थी। मुझे उनके सभी कार्यों का समर्थन या विरोध पुस्तक में ढूंढ़ लेने की क्षमता प्राप्त थी और मेरी इस क्षमता के कारण उन्हें निरन्तर सतर्क रहना पड़ता था। नन्हें बाबू उछला नहीं कि मैंने किताब खोलकर पढ़ा, "बन्दर नाच दिखाने आया।" मुन्नी रूठी नहीं कि मैंने सुनाया, "रूठी लड़की कौन मनावे, गरज पड़े तो भागी आवे।" वे बेचारे मेरे शास्त्र-ज्ञान से बहुत चिन्तित रहते थे; क्योंकि मेरे किसी कार्य के लिए दृष्टान्त ढूंढ़ लेने का साधन उनके पास नहीं था, पर अक्षरज्ञानी शुक्राचार्य निरक्षर रामा से पराजित हो जाते थे। उसके पास कथा-कहानी-कहावत आदि का जैसा बृहत् कोष था, वैसा सौ पुस्तकों में भी न समाता। इसीसे जब मेरा शास्त्र-ज्ञान महाभारत का कारण बनता तब वह न्यायाधीश होकर और अपना सबके कान में सुनाकर तुरंत सन्धि करा देता।

मेरे पण्डितजी से रामा का कोई विरोध न था; पर जब खिलौनों के बीच ही में मौलवी साहब, संगीत-शिक्षक और ड्राइंग मास्टर का

आविर्भाव हुआ तब रामा का हृदय क्षोभ से भर गया। कदाचित् वह जानता था कि इतनी योग्यता का भार मुझमे न सँभल सकेगा।

मौलवी साहब से तो मैं इतना डरने लगी थी कि एक दिन पढ़ने से बचने के लिए बड़े से झाबे मे छिपकर बैठना पड़ा। अभाग्य से झाबा वही था जिसमें बाबा के भेजे आमों मे से दो-चार शेष भी थे। उन्हें निकालकर कुछ और भरने के लिए रामा जब पूरे झाबे को, उसके भारीपन पर विस्मित होता हुआ माँ के सामने उठा लाया तब समस्या बहुत जटिल हो गई। जैसे ही उसने ढक्कन हटाया कि मुझे पलायमान होने के अतिरिक्त कुछ न सूझा। अन्त में रामा और माँ के प्रयत्न ने मुझे उर्दू पढने से छुट्टी दिला दी।

ड्राइंग मास्टर से मुझे कोई शिकायत नहीं रही; क्योंकि वे खेलने से रोकते ही नहीं थे। सब कागजों पर दो लकीरें सीधी खड़ी करके और उन पर एक गोला रखकर मैं रामा का चित्र बना देती थी। जब किसी और का बनाना होता तब इसी ढाँचे में कुछ पच्चीकारी कर दी जाती थी।

नारायण महाराज से न मैं प्रसन्न रहती थी, न रामा। जब उन्होंने पहले दिन संगीत सीखने के सम्बन्ध में मुझसे प्रश्न किया तब मैंने बहुत विश्वास के साथ बता दिया कि मै रामा से सीखती हूँ। जब उन्होंने सुनाने का अनुरोध किया तब मैंने रामा का वही भजन ऐसी विचित्र भावभंगी से सुना दिया कि वे अवाक् हो रहे। उस पर भी जब उन्होंने मेरे सेवक गुरु रामा को अपने से बड़ा और योग्य गायक नहीं माना तब मेरा अप्रसन्न हो जाना स्वाभाविक था।

रामा के बिना भी संसार का काम चल सकता है, यह हम नहीं मान सकते थे। माँ जब १०-१५ दिन के लिए नानी को देखने जातीं तब रामा को घर और बाबूजी की देख-भाल के लिए रहना पड़ता था। बिना रामा के हम आने के लिए किसी प्रकार भी प्रस्तुत न होते। अतः वे हमें भी छोड़ जातीं।

बीमारी के सम्बन्ध में रामा से अधिक सेवा-परायण और सावधान व्यक्ति मिलना कठिन था। एक बार जब छोटे भाई के चेचक निकली तब वह शेष को लेकर ऊपर के खण्ड में इस तरह रहा कि हमें भाई का स्मरण ही नहीं आया। रामा की सावधानी के कारण ही मुझे कभी चेचक नहीं निकली।

एक बार और उसीके कारण मैं एक भयानक रोग से बच सकी हूँ। इन्दौर में प्लेग फैला हुआ था और हम शहर से बाहर रहते थे। माँ और कुछ महीनों की अवस्थावाला छोटा भाई इतना बीमार था कि बाबूजी हम तीनों की खोज-खबर लेने का अवकाश कम पाते थे। ऐसे अवसरों पर रामा अपने स्नेह से हमें इस प्रकार घेर लेता था कि और किसी अभाव की अनुभूति ही असम्भव हो जाती थी।

जब हम सघन आम की डाल में पड़े झूले पर बैठकर रामा की विचित्र कथाओं को बड़ी तन्मयता से सुनते थे तभी एक दिन हल्के से ज्वर के साथ मेरे कान के पास गिल्टी निकल आई। रामा ने एक बुढ़िया की कहानी सुनाई थी जिसके फूले पैर में से भगवान् ने एक वीर मेंढक उत्पन्न कर दिया था। मैंने रामा को यह समाचार देते हुए कहा, "मालूम होता है, मेरे कान से कहानीवाला मेंढक निकलेगा।" वह बेचारा तो सन्न हो गया। फिर ईंट के गर्म टुकड़े को गीले कपड़े में लपेटकर उसने उसे कितना सेंका, यह बताना कठिन है। सेंकते-सेंकते वह न जाने क्या बड़बड़ाता रहता था जिसमें कभी देवी, कभी हनुमान और कभी भगवान् का नाम सुनाई दे जाता था। दो दिन और दो रात वह मेरे बिछौने के पास से हटा ही नहीं। तीसरे दिन मेरी गिल्टी बैठ गई; पर रामा को तेज बुखार चढ़ आया। उसके गिल्टी निकली, चीरी गई और वह बहुत बीमार रहा; पर उसे सन्तोष था कि मैं सब कष्टों से बच गई। जब दुर्बल रामा के बिछौने के पास मां हमें ले जा सकीं तब हमें देखकर उसके सूखे ओठ मानो हँसी से भर आए, धँसी आँखें उत्साह में तैरने लगीं और शिथिल शरीर में एक स्फूर्ति तरंगित

हो उठी। मां ने कहा, "तुमने इसे बचा लिया था रामा ! जो हम तुम्हें न बचा पाते तो जीवनभर पछतावा रह जाता।" उत्तर में रामा बढ़े हुए नाखूनवाले हाथ से मां के पैर छूकर अपनी आँखें पोंछने लगा। रामा जब अच्छा हो गया तब मां प्रायः कहने लगीं, "रामा, अब तुम घर बसा लो जिससे अपने बाल-बच्चों का सुख देख सको।"

"बाई की बातें ! मोय नासमिटे अपनन खौं का कनने हैं, मोरे राजा हरे बने रहें—जेई अपने रामा की नैया पार लगा देहें !"—ही रामा का उत्तर रहता था। वह अपने भावी बच्चों को लक्ष्य कर इतनी बातें सुनाता था कि हम उसके बच्चों की हवाई स्थिति से ही परिचित नहीं हो गए थे, उन्हें अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी पहचान गए थे। हमें विश्वास था कि यदि उसके बच्चे हमारे जैसे होते तो वह उन्हें कभी 'नासमिटा', 'मुँहझौंसा' आदि कहकर स्मरण न करता।

फिर एक दिन जब अपनी कोठरी से लाठी-जूता आदि निकालकर और गुलाबी साफा बाँधकर रामा आंगन में आ खड़ा हुआ तब हम सब बहुत सभीत हो गए; क्योंकि ऐसी सज-धज में तो हमने उसे कभी देखा ही नहीं था। लाठी पर सन्देह-भरी दृष्टि डालकर मैंने पूछ ही तो लिया, "क्या तुम उन बाल-बच्चों को पीटने जा रहे हो रामा ?" रामा ने लाठी घुमाकर हँसते-हँसते उत्तर दिया, "हाँ राजा भइया, ऐसी देहों नासमिटन के।" पर रामा चला गया और न जाने कितने दिनों तक हमें कल्लू की मां के कठोर हाथों से बचने के लिए नित्य नवीन उपाय सोचने पड़े।

हमारे लिए अनन्त और दूसरों के लिए कुछ समय के उपरान्त एक दिन सबेरे ही केसरिया साफा और गुलाबी धोती में सजा हुआ रामा दरवाजे पर आ खड़ा हुआ और 'राजा भइया, राजा भइया' पुकारने लगा। हम सब गिरते-पड़ते दौड़ पड़े; पर बरामदे ही में सहम कर अटक रहे। रामा तो अकेला नहीं था। उसके पीछे एक लाल धोती का कछोटा लगाये और हाथ में चूड़े और पांव में पैंजना पहने जो

घूँघटवाली स्त्री खड़ी थी उसने हमें एक साथ ही उत्सुक और सशंकित कर दिया।

मुन्नी जब रामा के कुरते को पकड़कर झूलने लगी तब नाक की नोक को छू लेने वाले घूँघट में से दो तीक्ष्ण आंखें उसके कार्य का मूक विरोध करने लगीं। नन्हें जब रामा के कन्धे पर आसीन होने के लिए जिद् करने लगा तब घूँघट में छिपे सिर मे एक निषेध-सूचक कम्पन जान पड़ा और जब मैंने झुककर उस नवीन मुख को देखना चाहा तब वह मूर्ति घूमकर खड़ी हो गई। भला ऐसे आगन्तुक से हम कैसे प्रसन्न हो सकते थे! जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे रामा की अँधेरी कोठरी में महाभारत के अँकुर जमते गए और हमारे खेल के संसार में सूखा पड़ने की सम्भावना बढ़ती गई। हमारे खिलौनों के नगर बसाने के लिए रामा विश्वकर्मा भी था और मय दानव भी; पर अब वह अपने गुरु कर्त्तव्य के लिए अवकाश ही नहीं पाता था। वह आया नहीं कि घूँघटवाली मूर्ति पीछे-पीछे आ पहुँची और उसके मूक असहयोग से हमारा और रामा का ही नहीं, गुड्डे-गुड़ियों का भी दम घुटने लगता था। इसीसे एक दिन हमारी युद्ध-समिति बैठी। राजा को ऊँचे स्थान में बैठना चाहिए, अतः मैं मेज पर चढ़कर धरती तक न पहुँचनेवाले पैर हिलाती हुई विराजी। मंत्री महोदय कुर्सी पर आसीन हुए और सेनापतिजी स्टूल पर जमे! तब राजा ने चिन्ता की मुद्रा से कहा, "रामा इसे क्यों लाया है?" मन्त्रीजी ने गम्भीर भाव से सिर हिलाते हुए दोहराया, "रामा इसे क्यों लाया है?" और सेनापति 'र' न कह सकने की असमर्थता छिपाने के लिए आंखें तरेरते हुए बोले "लाम है, इछे कौं लाया है?"

फिर उस विचित्र समिति में सर्वमत से निश्चित हुआ कि जो जीव हमारे एकछत्र अधिकार की अवज्ञा करने आया है, उसे न्याय की मर्यादा के स्वार्थ दण्ड मिलना ही चाहिए। यह कार्य नियमानुसार सेनापतिजी को सौंपा गया।

रामा की बहू जब रोटी बनाती तब नन्हें बाबू चुपके से उसके चौके के भीतर बिस्कुट रख आता, जब वह नहाती तब लकड़ी से उसकी सूखी धोती नीचे गिरा देता। न जाने कितने दण्ड उसे मिलने लगे; पर उसकी ओर से न क्षमा-याचना हुई और न संधि का प्रस्ताव आया। केवल वह अपने विरोध में और अधिक दृढ़ हो गई और हमारे अपकारों का प्रतिशोध बेचारे रामा से लेने लगी। उसके सांवले मुख पर कठोरता का अभेद्य अवगुण्ठन पड़ा ही रहता था और उसकी काली पुतलियों पर से क्रोध की छाया उतरती ही न थी, इसीसे हमारे ही समान अबोध रामा पहले हतबुद्धि हो गया, फिर खिन्न रहने लगा और अन्त में विद्रोह कर उठा। कदाचित् उसकी समझ में ही नहीं आता था कि वह अपना सारा समय और स्नेह उस स्त्री के चरणों पर कैसे रख दे और रख दे तो स्वयं जिये कैसे! फिर एक दिन रामा की बहू रूठकर मायके चल दी।

रामा ने तो मानो किसी अप्रिय बन्धन से मुक्ति पाई; क्योंकि वह हमारी अद्‌भुत सृष्टि का फिर वही चिर-प्रसन्न विधाता बनकर बहू को ऐसे भूल गया जैसे वह पानी की लकीर थी।

पर मां को अन्याय का कोई भी रूप असह्य था! रामा पत्नी को हमारे पुराने खिलौनो के समान फेंक दे, यह उन्हे बहुत अनुचित जान पड़ा, इसलिए रामा को कर्त्तव्य-ज्ञान-सम्बन्धी विशद और जटिल उपदेश मिलने लगे। इस बार रामा के जाने में वही करुण विवशता जान पड़ती थी, जो उस विद्यार्थी मे मिलती है जिसे पिता से स्नेह के कारण मास्टर से पिटने जाना पड़ता है।

उस बार जाकर फिर लौटना सम्भव न हो सका। बहुत दिनो के बाद पता चला कि वह अपने घर बीमार पड़ा है। मां ने रुपये भेजे, आने के लिए पत्र लिखा; पर उसे जीवन-पथ पर हमारे साथ इतनी ही दूर आना था।

हम सब खिलौने रखकर शून्य दृष्टि से बाहर देखते रह जाते थे।

मुन्हें बाबू सात समुद्र पार पहुँचना चाहता था; पर उड़नेवाला घोड़ा न मिलने से यात्रा स्थगित हो जाती थी। मुन्नी अपनी रेल पर संसार-भ्रमण करने को विकल थी, पर हरी-लाल झंडी दिखानेवाले के बिना उसका चलना-ठहरना सम्भव नहीं हो सकता था। मुझे गुड़िया का विवाह करना था; पर पुरोहित और प्रबन्धक के बिना शुभ लग्न टलती चली जाती थी।

हमारी संख्या चार तक पहुँचानेवाला छोटे भइया ढाई वर्ष का हो चुका था और हमारे निर्माण को ध्वंस बनाने के अभ्यास में दिनों-दिन तत्पर होता जा रहा था। उसे खिलौनों के बीच में प्रतिष्ठित कर हम सब बारी-बारी से रामा की कथा सुनाने के उपरान्त कह देते थे कि रामा जब गुलाबी साफा बांधकर लाठी लिए हुए लौटेगा तब तुम गड़बड़ न कर सकोगे। पर हमारी कहानी के उपसंहार के लिए भी रामा कभी न लौटा।

आज मैं इतनी बड़ी हो गई हूँ कि 'राजा भइया' कहलाने का हठ स्वप्न-सा लगता है, बचपन की कथा-कहानियां कल्पना जैसी जान पड़ती हैं और खिलौनों के संसार सा सौन्दर्य भ्रान्ति हो गया है; पर रामा आज भी सत्य है, सुन्दर है और स्मरणीय है। मेरे अतीत में खड़े रामा की विशाल छाया वर्तमान के साथ बढ़ती ही जाती है—निर्वाक, निस्तन्द्र, पर स्नेह-तरल।

धरती : १२

वासुदेवशरण अग्रवाल

देश की आशा उसकी धरती है। भारत खेतिहरों का देश है। किसान धरती के बेटे हैं। यहां किसान जियेगा तो सब कुछ है। किसान बिछट गया तो सब कुछ बंटाढार समझिए। एक पुराने संस्कृत श्लोक में पते की बात कही है :

राज्ञः सत्त्वे असत्त्वे वा विशेषो नोपलक्ष्यते।
कृषीवल विनाशे तु जायते जगतो विपत्॥

राजा एक रहे या दूसरा आ जाय, कुछ विशेष भेद नहीं पड़ता, लेकिन अगर किसान का नाश हुआ तो जग-प्रलय समझनी चाहिए। किसान के जीवन को बनाने में भारत का सर्वोदय है। भारत का किसान देख-भालकर चलनेवाला है। वह सदियों से अपना काम चतुराई के साथ करता आ रहा है। उसमे हड्डं पेलने का भी गुण है। खेत में जब उतरता है, खून-पसीना एक कर देता है। सर्दी-गर्मी से वह जी नहीं चुराता। असौज की धूप में भी सिर पर चादर रखकर वह खेत में डटा रहता है। वह स्वभाव से मितव्ययी है। उसे बुद्धू या पुरानपन्थी कहना अपनी आंखों का अन्धापन है। भारतीय किसान को उसकी भाषा में जब कोई अच्छी बात बताई जाती है, वह उसे चाव से सीखता है और अपनाने की कोशिश करता है, लेकिन अगर भारी भरकम, अधकचरा ज्ञान उसके द्वारे उंडेल दिया जाय और वह भी

विदेशी भाषा में तो यदि किसान उसे न समझ पावे तो किसान का क्या दोष है ? भारतीय किसान के शरीर और मन में धरती-माता क्षमा और दृढ़ता बनकर बैठी है। संतोष और परिश्रम में भारतीय किसान संसार में सबसे ऊपर हैं। उसके सद्गुणों की प्रशंसा करनी चाहिए। किसान को दोषी ठहराना सस्ता विज्ञापन है और वैसा करना अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारना है। किसान के साथ जो झूठी हमदर्दी या दया-मया दिखाते हैं उन मित्रों से भी किसान को भगवान् बचावे। फूंस और छप्पर के कच्चे घरों में रहना कोई त्रुटि नहीं है। किसान ने चतुराई से जान-बूझकर इस तरह के घर चुने। उसके घर की देवी ने पहले से ही तिनकों का वस्त्र पहना, वही उसे भाया। किसान अपने घर को बाँस और बल्लियों के ठाठ से, अपने ही जङ्गल के घास और फूंस से और अपने ताल की मिट्टी से पाथी हुई कच्ची ईंटों से बनाता है। इसमे एक बड़ा लाभ है, वह यह कि किसान शहर का या बाहरी *जगत् का मुंह नहीं ताकता, वह अपने ही क्षेत्र में स्वावलम्बी बन* जाता है। आत्मनिर्भरता भारतीय किसान के जीवन की कुंजी है। उसके खेती के औजार, हल, हेंगा, पंजाली, बरत, पुराही, कुदाल, हंसिया, सब उसके यहां ही तैयार होते है। गांव की जानी-पहचानी कारीगरी किसान को आत्मनिर्भर बनाती है। भारतीय खेती की पुरानी पद्धति में सैकड़ों तरह का शिल्प किसान के हाथों में रहता है। पचासों तरह की रस्सी वह अपने हाथों से बनाता है और गठियाता है। अपनी बोझ ढोने की छकड़ा गाड़ी को गांव के लुहार-बढ़ई की मदद से वह स्वयं कसकर तैयार करता है। ऊख बोने से पेरने और गुड़-खांड बनाने की सारी प्रक्रिया किसान की उंगलियों के पोरवों में बसती है। लाखों रुपया लगाकर जो परिणाम शक्कर-मिल से होता है वह किसान की खंडसार में गांव-गांव और घर-घर देखने को मिलता था। नदी की सिरवाल घास से वह अपनी राब का शीरा अलग करता और भिंडी की सुकलाई और दूध की धार से वह अपने गुड़ का मैल काटता था।

बगले के पंख की तरह सफेद वह खांड बनाता था और जहां यह उद्योग चौपट नहीं हो गया है वहां आज भी बनाता है। आत्मनिर्भरता भारतीय किसान का बहुत बड़ा गुण है। यदि इसी बात का आंख खोल कर अध्ययन किया जाय तो हजारों बातें ऐसी मिलेंगी जिन्हें गांव का भारतीय किसान अपने हाथ से कर लेता है और जिनके लिए उसे बाहर के यंत्रों और मिस्त्रियों का मुंह नहीं ताकना पड़ता। जिस चीज को वह अपने गांव में ही तैयार न कर सके और टूट-फूट होने या बिगड़ने पर स्वयं जिसकी मरम्मत न कर सके-ऐसे यन्त्र को किसान ने कभी नहीं पसन्द किया। ऐसा यन्त्र यदि उसके जीवन में हम पहुँचाते हैं तो हम उसके ऊपर एक आर्थिक बोझा लादते हैं, उसे बहुत हद तक दूसरे पर निर्भर बनाकर उसकी स्वतन्त्रता का लोप करते हैं। बड़े-बड़े आठ लाठ के पक्के गोला कुंवे आज भी भारतीय किसान अपने बलबूते और मस्तिष्क के अनुभव से और गांव के माल-मसाले से तैयार कर लेते हैं। उनके इस कौशल की जी खोलकर प्रशंसा होनी चाहिए। किसी देहात में चले जाइए, ऐसे कुवों से गांव-बस्ती और जङ्गल भरे हुए मिलेंगे। इन्हें देवता नहीं बना गए। किसानों ने ही धरती के सोत फोड़कर इन बड़े इन्दारों या गहरे कुंवों को बनाया था। कुंवे का गोला गालना आज भी गांवो मे बडी चतुराई का काम समझा जाता है। किसान के पास न सीमेंट था, न सिरिया या गर्डर थे। इन चीजों ने गांव में पहुँचकर वहांके माल-मसालो की ओर से किसानो का जी फेर दिया। चाहिए तो यह कि अपनी धरती के जिस मसाले से वह अबतक इतनी मजबूत चीजें बनाता रहा था, उसीकी तारीफ करके उसे आत्मनिर्भर बनाया जाय। आज तो उलटी गंगी बहने लगी है। तिनकों का वस्त्र पहननेवाली गांव की देवी लाल ईंट के मोह में फँस रही है। लाल ईंट भयावनी वस्तु है। इसमे गांव का हित नहीं, अनहित है। किसान को अपने लिपे-पुते कच्चे घरों से प्यार था। वे उसे सर्दी मे गरम और गरमी मे ठंडे लगते थे। उन्हें वह स्वयं अपने

हाथों के बल-बूते पर या पड़ोसियों के साथ मिलकर बना डालता था, उनकी लिपाई, लिहसाई और पुताई में उसकी घरवाली उसका हाथ बंटाती थी। अपने अन्न, घर और वस्त्र को पैदा करने और बनाने में किसान स्वतन्त्र था, एकदम आत्मनिर्भर। वेद के शब्दों में :

स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज

अपने खेत या केन्द्र पर बिलकुल निर्भय, आधि-व्याधि से दूर, आत्मनिर्भर होकर विराजता था। आज किसान की आत्मनिर्भरता धीरे-धीरे चलती जा रही है। एक-एक करके बाहरी कल-कांटे उसके जीवन पर छापा मार रहे हैं और वह उनके भ्रम-जाल में पड़कर अपनी आर्थिक और बौद्धिक स्वतन्त्रता खो रहा है। किसान घर का रहेगा न घाट का। यदि लाख दो लाख आदमी इस मोह के शिकार होते तो इस मजाक को सह लिया जाता, लेकिन करोड़ों देहात के मनुष्यों को शहर की खर्चीली चीजों का गुलाम बना डालना ऐसी भूल होगी जिसके बोझ से किसान पिस जायगा।

भारतीय किसान के पास हाथ-पैर का बल है, उसके मन में काम करने का उत्साह है, उसमें अपनी धरती और घर-गृहस्थी से प्रेम है। वह राह-राह चलता है, उसमें बुद्धि का गुण भरपूर मात्रा में है। वस्तुतः समझ-बूझ में भारत का किसान बढ़ा-चढ़ा है। उसे किसी तरह बुद्धू नहीं कहा जा सकता। गांव से छूटकर जब वह शहर में आ जाता है तो शहरी धन्धों को कितनी फुर्ती से सीख लेता है, अथवा जब वह भर्ती होकर लाम पर जाता है तब वहां की कवायद, हथियार और मशीन के काम को वह कितनी चालाकी से सीख लेता है। भारतीय किसान भाषा और भाव दोनों का धनी है। उसके गीतों में उसके सुख-दुख की अनुभूति प्रकट होती है। इस अनुभूति के तार भारतीय साहित्य के अभिप्रायों से मिले हैं। उसकी पैनी बुद्धि गांव की चोखी कहावतों में जगमगाती है। मेल-जोल किसान के जीवन को बांधनेवाली पोढ़ी रस्सी है, उसमें मिल-जुलकर जीवन चलाने का

अद्भुत गुण है। खेती के गाढ़े समय में जब काम का बोझ रहता है, विशेषकर जुताई-बुआई का मंडनो-दवनी के कामों में वे खुले जी से एक दूसरे का हाथ बंटाते हैं। शादी-ब्याह, जग्य-ज्योनार के समय किस तरह सारा गांव और पसगांव भी एक सूत में बंध जाता है। यह देखने लायक होता है। टेहले के घरेलू कामों को कितने ही परिवार सुविधा के अनुसार बांटकर भुगता देते हैं। मनों गेहूँ पीसना हो तो कितने ही घरों की स्त्रियां बांट ले जाती हैं और गाते-गाते आटा तैयार हो जाता है। सारे गांव-बिरादरी की चक्कियां एक परिवार की सेवा में लग पड़ती हैं। दाल पीसना हो, कलावे रंगना हो, तोयल सीना हो, इसी प्रकार की पारिवारिक साझेदारी से चटपट काम हो जाता है। सहकारिता की भित्ति पर बनी हुई जीवन-पद्धति गांव में पहले से चली आती है। उसको यदि बाहरी चोला न पहनाया जाय तो उसी जीवन में से पुन: उसके क्षेत्र का विस्तार किया जा सकता है।

भारतीय किसान कथा-वार्ता का प्रेमी रहा है। उसे अपने पूर्वजों के चरितों मे रुचि है। आंखें उसकी काले अक्षर नहीं देखतीं, पर कानों के द्वारा और कण्ठ के द्वारा वह अपरिचित ज्ञानराशि की रक्षा करता आया है। लाखो ग्रामगीत, हजारों कहानियां, लोकोक्तियां और ऋतु एवं प्रकृति की बातें किसानों के कण्ठ में हैं, जहांसे भाषा का अमित शब्द-भडार प्राप्त किया जा सकता है। जाड़ों की चिलकती धूप और गर्मी की प्रशान्त रातों में, बरसात के घोरते-गरजते समय और वसन्त के फगुवा बयार मे किसान का रोम-रोम नृत्य और गीत के लिए फड़कने लगता है। जीवन की नसो की थिरकन भीतरी उल्लास को नृत्य में उंडेल देती है। जीवन की रक्षा करनी है तो लोकनृत्य को मरने से बचाना होगा, लोकसंगीत की लय को फिर से सुनना होगा, जो जङ्गल को वसन्त के आगमन पर गीत-मंगल से भर देती है। किसान के जीवन को पुनः चिताने के लिए उसके नृत्य-गीत अमृत का काम करेंगे।

किसान को बाहर से आता हुआ सच्चा सहानुभूति का स्वर चाहिए। उसके जीवन के सीधे-सच्चे ढांचे को समझने, परखने और संभालने की आवश्यकता है, अस्त-व्यस्त करने की नहीं। नीचे खींच लेना आसान है, ठाठ खड़ा करना मुश्किल है। आज हलधर मनोवृत्ति बनाने की आवश्यकता है देश में चारों ओर सब तरह की मनोवृत्ति तैयार हो रही है, लेकिन हल की मुठिया पकड़कर हलधर बनने या कहलाने की मनोवृत्ति का टोटा है। कहते हैं, किसी गाढ़े समय में जनक ने हल की मुठिया थामी थी, तब धरती ने सोना उगला था। आज सोने के घट की देवी, धरती की पुत्री सीता के जन्म की पुनः आवश्यकता है। और सब जगह तो हम जाते हैं, किसानों के खेतों में जाना नहीं सीखा। क्या हमारे अभिनन्दन और उद्घाटन जनपदों की जननी के लिए अर्पित न होंगे? आवश्यकता है कि पर्याप्त प्रचार और उत्साह से सारे जनपद के कल्याण का उद्घाटन हम किसी दिन करें और उसी मुहूर्त से पृथ्वी और पृथ्वी के पुत्र किसानों के जीवन के कायाकल्प करने के लिए जनपद के सच्चे सेवक व सरकारी अमला कमर कस लें। एक-एक जनपद को हम पांच वर्षों में अन्न और वस्त्र से पाट देंगे, वहां की भूमि के सेहा हल कराल होकर गहरी फाड़ करने लगेंगे, वहां के तिनकों में जान पड़ जायगी, गाय-भैंसों के सूखते पंजरों पर फिर से मांस के लेवड़े चढ़ने लगेंगे और लुढ़कती हुई टांट वाले सांड खेतों में खड़े मठारने लगेंगे। आज के जैसी मूर्छा-उदासी-असहायता का नाम-निशान न रह जायगा। किसान के लिए चारों ओर आशा का नया संसार होगा। सभी के मन यदि संकल्पवान् होंगे तो गाड़ी अटक नहीं सकती। हमारे भारी-भरकम पोथों का ज्ञान भी छनकर किसान तक पहुंचेगा और उस भूमि के लिए उपयोगी होगा, जिसके धन से वह सींचा गया है। हलधर मनोवृत्ति का फगुनहटा देहातों में बहेगा तो एक ओर से दूसरे ओर तक सभी कुछ नया रस पाकर लहलहाने लगेगा। देहातों को पैसा नहीं चाहिए, किसान का

बलिष्ठ शरीर सकुशल बचा रहे, वह धरती के साथ सती होकर उसकी काया पलट देगा ?

धरती का कायाकल्प यह देहात की सबसे बड़ी समस्या है। आज धरती-माता रूठ गई है। किसान धरती में पचता-मरता है, पर धरती में उपज नहीं होती। बीज के दाने तक कहीं-कहीं धरती पचा जाती है। धरती से अन्न की चाहना करते हुए गांव-गांव के किसानों ने पड़ती जङ्गल जोत डाले, बंजर तोड़ते-तोड़ते किसानों के बैल थक गए, पर धरती अक्काबाई[1] की तरह न पसीजी और किसानों की दरिद्रता बढ़ती चली गई। 'अधिक अन्न उपजाओ' का सुग्गा पाठ किसान सुनता है। वह समझता है कि अधिक धरती जोत में लानी चाहिए। उसने बाग-बगिया के पेड़ काट डाले, खेतों को बढ़ाया, पर धरती ने अधिक अन्न नहीं उपजाया। अधिक धरती के लिए अधिक पानी चाहिए, अधिक खाद चाहिए। वह पहले से ही नहीं था। किसान की उलझन बढ़ गई, धरती की भूख-प्यास बढ़ गई। धरती रूठी है। अब उसे मनाना होगा। वह रीती है, उसे भरना होगा, तभी उसकी मिट्टी में से गेहूँ के मक्खनफूल की इतराती हुई बालें निकलेंगी, तभी कनकजीरी धान के कण्ठों से निगरती हुई बालें अपने झूम-झूलन से खेतों को भर देंगी, और तभी मोटे अन्नों की कनूकेदार भुट्टियों के दर्शन होंगे। धरती की भी अपनी कथा और व्यथा है, उसे सुनने और समझनेवाले चाहिएं। धरती से हम लेते रहे, उसे दिया कुछ नहीं। अन्न के रूप में उसका सार खींचते रहे, पर खाद से उसे पोसा नहीं। धरती को हम रीती करते रहे, फिर भरा नहीं। धरती केवल मिट्टी नहीं है, उसमें कीमिया भरी है। वही रसायन मिट्टी में से गेहूँ-गन्ने का अमृत उपजाता है। गेहूँ को जैसी मिट्टी चाहिए, जौ को उससे दूसरी तरह की। आलू को माननेवाली पहाड़ी मिट्टी तेजाबी होती है, जौ को मानने-

1 दरिद्रता की मराठी देवी।

वाली मैदानों की मिट्टी रेहाली या खारी। धरती में खारापन बढ़ जाय तब भी पौधे-पत्ती सूख जाती है, तेजाब का अंश बढ़े तो भी ठीक नहीं। धरती की नब्ज पहचानना जरूरी है। धरती का यह स्वास्थ्य या संतुलन खाद-पानी पर निर्भर है। धरती के विशेषज्ञ कान लगाकर उसकी बात सुनते हैं, आत्मविश्वास के साथ उसकी कमी को पूरा करते हैं और मनचीता अन्न उत्पन्न करते हैं। हमारा किसानों का देश है, खेती हमारा राष्ट्रीय पेशा है,खेतिहर होना हमारे लिए सबसे गर्व की बात है। हम अच्छे खेतिहर बन सकें, इससे बढ़कर हमारे कल्याण की कोई बात नहीं है। हमारी पढ़ाई-लिखाई का आदर्श, रहन-सहन का आदर्श यही बनना चाहिए कि खेतिहरों की श्रेणी में हमारी गिनती हो। हालैंड के एक सज्जन से एक दिन भेंट हुई। नाम था रीरिंक। री—ऋष्य या हिरन,और रिंक—रिंग या पट्टी,जिस हिरन की गर्दन में पट्टी पड़ी हो। नाम का अर्थ जानकर आत्मीयता बढ़ी। उसने बड़े अभिमान से कहा कि मैं धरती का विशेषज्ञ हूँ। हमारा देश किसानों का है, वही हमारा धन्धा है। हमारे पास कोयला और यन्त्र नहीं,पर हमें अपनी खेती का गर्व है। बीस वर्षों से मैं भारत में काम कर रहा हूँ। यहाँ भूमि का विज्ञान उन्नत होना चाहिए, भूमि-सम्बन्धी साहित्य (सोआएल साइंस और सोआएल लिटरेचर) बढ़ना चाहिए। 'अधिक अन्न उपजाओ' का अर्थ है हर बीघे में आज से सवाया-ड्यौढ़ा अन्न उत्पन्न करना, नई भूमि को तोड़कर जोत में लाना नहीं। उसके लिए विशेष पानी, बीज, खाद और श्रम की आवश्यकता होगी। भूमि में डाला हुआ एक बीज आज यदि चालीस दाने उत्पन्न करता है तो ऐसी कोशिश होनी चाहिए कि हर बाल में दानों की संख्या बढ़े और हर पूंजे में से बिआस की संख्या बढ़े। यह अच्छी खाद से हो सकेगा। इसके लिए गोबर की तैयार की हुई खाद अनमोल है। गोबर की खाद मिट्टी के गड्ढों में डालकर ठीक तरह से सड़ाई और तैयार की गई हो। साल भर पुरानी गोबर की खाद भूमि को सर्वोत्तम खुराक

है। रीरिंक की बात ध्यान से सुनने और मानने लायक है।

हजारों बरसों से भारतीय किसान गोबर को खाद काम में लाते रहे हैं। गोबर मैला पानी सड़े। तब खेती मे दाना पड़े।। खेती करे खाद से भरै। सौ मन कौठिला से लै धरै।। लेकिन खाद तैयार करने का सही तरीका आज वे काम मे नहीं लाते। खाद का नमकीन सारांश खेत मे पहुंचने से पहले ही धुल जाता है। खाद शब्द 'खात' से बना है। खात का अर्थ गड्ढा। भूमि में खात या गड्ढा खोदकर उसमे गोबर-मिट्टी की तह-पर-तह चढ़ाकर बढ़िया खाद तैयार होती थी। उसमे थोड़ी मेहनत पड़ती है, पर किसान के लिए वही सोना है। उसकी गाढ़ी कमाई मे बरकत देनेवाला पदार्थ खाद ही है। खात परै तो खेत, नाहिं कूड़ा-रेत। वही खेत, वही किसान और वही बीज—पर बढ़िया खाद का रसायन पाकर धरती सोना उगलने लगती है। गांव-गांव मे लाखों-करोड़ों खत्तो में खाद तैयार करने की सही परिपाटी डालनी चाहिए। एक भी किसान ऐसा न रहे जो खाद के सही तरीके को अमल में न लाता हो। सारा जनपद इसे अपने जीने-मरने का प्रश्न समझकर इसे अपनावे। आज गांव की कूड़ियों पर खाद का रत्न फेककर हम उसकी ओर से आंख मींच लेते हैं और बरसात बाद धुलकर जो बच रहता है, उसे खेतों में जा पटकते हैं। वह खाद नहीं है, खाद की ठठरी अवश्य है। धरती उसे क्या माने और कैसे अपना काम चलावे? उसकी कोख में से जो गेहूं के खूद और ईख के पोधे जन्म लेते हैं। पर मरभुखे जैसे। उनमे तेज नहीं, तगड़ापन नहीं, हवा-पानी उन्हें बर्दाश्त नहीं होती और प्रकृति के छोटे-मोटे परिवर्त्तन उन्हें घुसक लेते हैं। पर यदि खाद को ठीक ढंग से गड्ढों में सड़ा-गला कर तैयार किया जाय तो वह तिजोरियों में जमा की हुई धनराशि की तरह मूल्यवान् होगा और जिस भूमि को वह खुराक मिलेगी, उसीमें नया चमत्कार पैदा होगा। कहा भी है कि झूठी खाद खानेवाला खेत दुबला रहता है, पर सच्ची खाद पाकर वही मुटा जाता है—अगर खेत

जुट्टो खाय। सड़ै बहुत तो बहुत मोटाय ॥ धरती किसान से कहती है—जाओ, खेत में गोबर की खाद डालो और खेती का स्वाद देखो—जा कर देखो गोबर खाद। तब देखो खेती का स्वाद ॥ भूमि की परवरिश किसान-जीवन की बुनियाद है। गोबर की खाद के लिए गोधन की आवश्यकता होगी। गोधन के लिए चरावर धरती और खेतों में पैदा किये हुए चारे की जरूरत है। खेतों में अन्न-भूसे की कमी हुई तो जंगलों के भी खेत बना लिये गए। गांव के पोहों के लिए चरने का ठिकाना न रहा तो किसान के लिए गोधन का रखना कठिन हो गया। गोधन के छीजने से एक ओर खाद का और दूसरी ओर घी-दूध का सिलसिला टूट गया। खाद के बिना धरती की मौत हुई और गोरस के बिना मनुष्य की देह सूख गई। यह क्रूर चक्कर है, जिसकी कराल दाढ़ों के बीच में भारतीय किसान फंस गया है। धरती-खाद-गोधन-चरागाह एक ही लक्ष्मी के चार हाथ हैं। एक की कुशल दूसरे की कुशल के साथ गुथी हुई है। एक को भी हम सचाई से ठीक करने लगें तो दूसरे अंग उसीके साथ ठीक होने लगेंगे। गांवों के कल्याण का संदेश ढीला पड़ा हुआ है। उसमें बिजली भरने की आवश्यकता है। हलधर मनोवृत्ति के प्रचार से शहर और गांवों में किसान के जीवन के प्रति नई रुचि उत्पन्न होगी और संकल्पवान् चित्तों में नए कार्यक्रम का उदय होगा।

अशोक के फूल : १३

हजारीप्रसाद द्विवेदी

अशोक में फिर फूल आ गये। इन छोटे-छोटे लाल-लाल पुष्पों के मनोहर स्तबकों मे कैसा मोहन भाव है। बहुत सोच-समझकर कन्दर्प-देवता ने लाखों मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पांच को ही अपने तूणीर में स्थान देने योग्य समझा था। एक यह अशोक ही है।

लेकिन पुष्पित अशोक को देखकर मेरा मन उदास हो जाता है। इसलिए नहीं कि सुन्दर वस्तुओं को हतभाग्य समझने में मुझे कोई विशेष रस मिलता है। कुछ लोगों को मिलता है। वे बहुत दूरदर्शी होते हैं। जो भी सामने पड़ गया, उसके जीवन के अंतिम मुहूर्त्त तक का हिसाब वे लगा लेते हैं। मेरी दृष्टि इतनी दूर तक नहीं जाती। फिर भी मेरा मन इस फूल को देखकर उदास हो जाता है। असली कारण तो मेरे अन्तर्यामी ही जानते होंगे। कुछ थोड़ा-सा मैं भी अनुमान कर सका हूँ। उसे बताता हूँ।

भारतीय साहित्य में—और इसीलिए जीवन में भी, इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। ऐसा तो कोई नहीं कह सकेगा कि कालिदास के पूर्व भारतवर्ष में इस पुष्प का कोई नाम ही नहीं जानता था; परन्तु कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है, वह पहले कहां था!

उस प्रवेश में नववधू के गृह-प्रवेश की भांति शोभा है, गरिमा है, पवित्रता है और सुकुमारता है। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ-ही-साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। नाम तो लोग बाद में भी ले लेते थे; पर उसी प्रकार जिस प्रकार बुद्ध, विक्रमादित्य का। अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिंजनकारी नूपुरवाले चरणों के मृदु आघात से वह फूलता था, कोमल कपोलों पर कर्णावतंस के रूप में झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम पैदा करता था और मनोजन्मा देवता के एक इशारे पर कंधे पर से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता के समान झम-से रंगमंच पर आता है और दर्शकों को अभिभूत करके खप-से निकल जाता है। क्यों ऐसा हुआ? कंदर्प-देवता के अन्य बाणों की कदर तो आज भी कवियों की दुनिया में ज्यों-की त्यों है। अरविन्द को किसने भुलाया? आम कहां छोड़ा गया और नीलोत्पल की माया को कौन काट सका? नवमल्लिका की अवश्य ही अब विशेष पूछ नहीं है; किन्तु उसकी इससे अधिक कदर कभी थी भी नहीं। भुलाया गया है अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह मनोहर पुष्प भुलाने की चीज थी? न, मेरा मन यह सब मानने को तैयार नहीं है। जले पर नमक तो यह कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा जाने लगा! याद भी किया तो अपमान करके!

लेकिन मेरे मानने न मानने से होता क्या है? ईसवी सन् के आरम्भ के आसपास अशोक का शानदार पुष्प भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में अद्भुत महिमा के साथ आया था। उसी समय शताब्दियों के परिचित यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को एकदम नवीन

रूप में बदल दिया था। पंडितों ने शायद ठीक ही सुझाया है कि गंधर्व और कन्दर्प वस्तुतः एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। कन्दर्प-देवता ने यदि अशोक को चुना है तो यह निश्चित रूप से एक आर्येतर सभ्यता की देन है। इन आर्येतर जातियों के उपास्य वरुण थे, कुबेर थे, वज्रपाणि यक्षपति थे। कन्दर्प यद्यपि कामदेवता का नाम हो गया है, तथापि है वह गंधर्व का ही पर्याय। शिव से भिड़ने जाकर एक बार वह पिट चुके थे, विष्णु से डरते रहते थे और बुद्धदेव से भी टक्कर लेकर लौट आये थे; लेकिन कन्दर्प-देवता हार माननेवाले जीव न थे। बार-बार हारने पर भी वह झुके नहीं। नये-नये अस्त्रों का प्रयोग करते रहे। अशोक शायद अन्तिम अस्त्र था। बौद्धधर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया, शैव मार्ग को अभिभूत कर दिया और शक्ति-साधना को झुका दिया। वज्रयान इसका सबूत है, कौल-साधना इसका प्रमाण है और कापालिक मत इसका गवाह है।

रवीन्द्रनाथ ने इस भारतवर्ष को 'महामानवसमुद्र' कहा है। विचित्र देश है यह! असुर आए, आर्य आए, शक आए, हूण आए, नाग आए, यक्ष आए, गंधर्व आए—न जाने कितनी मानव-जातियां यहां आईं और आज के भारतवर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गईं। जिसे हम हिन्दू रीति-नीति कहते हैं, वह अनेक आर्य और आर्येतर उपादानों का अद्भुत मिश्रण है। एक-एक पशु, एक-एक पक्षी न जाने कितनी स्मृतियों का सार लेकर हमारे सामने उपस्थित है। अशोक की भी अपनी स्मृति-परम्परा है। आम की भी है, बकुल की भी है, चम्पे की भी है। सब क्या हमें मालूम है? जितना मालूम है, उसीका अर्थ क्या स्पष्ट हो सका है? न जाने किस बुरे मुहूर्त्त में मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका था। शरीर जलकर राख हो गया और वामन पुराण (षष्ठ अध्याय) की गवाही पर हमें मालूम है कि उनका रत्नमय धनुष टूटकर खंड-खंड हो धरती पर गिर गया। जहां मूठ थी, वह स्थान रुक्म-मणि से बना था, वह टूटकर धरती पर गिरा और चम्पे का

फूल बन गया ! हीरे का बना हुआ जो नाह-स्थान था, वह टूटकर गिरा और मौलसिरी के मनोहर पुष्पों में बदल गया ! अच्छा ही हुआ। इन्द्र-नील-मणियों का बना हुआ कोटि-देश भी टूट गया और सुन्दर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो गया। यह भी बुरा नहीं हुआ। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह हुई कि चन्द्रकान्त-मणियों का बना हुआ मध्य-देश टूटकर चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गई। स्वर्ग को जीतनेवाला कठोर धनुष जो धरती पर गिरा तो कोमल फूलों में बदल गया। स्वर्गीय वस्तुएं धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं !

परन्तु मैं दूसरी बात सोच रहा हूं। इस कथा का रहस्य क्या है ? यह क्या पुराणकार की सुकुमार कल्पना है या सचमुच ये फूल भारतीय संसार में गन्धर्वों की देन हैं ? एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में मिलती भी नहीं। सोम तो निश्चित रूप से गन्धर्वों से खरीदा जाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ की विधि में यह विधान सुरक्षित रह गया है। ये फूल भी क्या उन्हींसे मिले ?

कुछ बातें तो मेरे मस्तिष्क में बिना सोचे ही उपस्थित हो रही हैं। यक्षों और गन्धर्वों के देवता—कुबेर, सोम, अप्सराएं—यद्यपि बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं, तथापि पुराने साहित्य में ये अपदेवता के रूप में ही मिलते हैं। बौद्ध-साहित्य में तो बुद्धदेव को ये कई बार बाधा देते हुए बताये गए हैं। महाभारत में ऐसी अनेक कथाएं आती हैं, जिनमें सन्तानार्थिनी स्त्रियां वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास सन्तानकामिनी होकर जाया करती थीं। यक्ष और यक्षिणी साधरणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे। कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी हैं। 'यक्ष्मा' नामक रोग के साथ भी इन लोगों का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। भरहुत, बोधगया, सांची आदि में उत्कीर्ण मूर्तियों में सन्तानार्थिनी स्त्रियों का यक्षों के सान्निध्य के लिए वृक्षों के पास जाना अंकित है। इन वृक्षों के पास अंकित मूर्तियों की स्त्रियां

प्रायः नग्न हैं, केवल कटिदेश मे एक चौड़ी मेखला पहने हैं। अशोक इन वृक्षों में सर्वाधिक रहस्यमय है। सुन्दरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्त्ती धर्मग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ल अष्टमी को व्रत करने और अशोक को आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान-कामना फलवती होती है। अशोक-कल्प में बताया गया है कि अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं—सफेद और लाल। सफेद तो तान्त्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद समझकर व्यवहृत होता है और लाल स्मरवर्धक होता है। इन सारी बातों का रहस्य क्या है? मेरा मन प्राचीन काल के कुज्झटिकाच्छन्न आकाश मे दूर तक उड़ना चाहता है। हाय, पंख कहां हैं?

यह मुझे बहुत प्राचीन युग की बात मालूम होती है। आर्यों का लिखा हुआ साहित्य ही हमारे पास बचा है। उसमे सब कुछ आर्य दृष्टिकोण से ही देखा गया है। आर्यों से अनेक जातियो का संघर्ष हुआ। कुछ ने उनकी अधीनता नहीं मानी, कुछ ज्यादा गर्वीली थीं। संघर्ष खूब हुआ। पुराणों मे इसके प्रमाण हैं। यह इतनी पुरानी बात है कि सभी संघर्षकारी शक्तियां देवयोनि-जात मान ली गईं। पहला संघर्ष असुरों मे हुआ। यह बड़ी गर्वीली जाति थी। आर्यों का प्रभुत्व इसने नहीं माना। फिर दानवों, दैत्यो और राक्षसो से संघर्ष हुआ। गन्धर्वों और यक्षो से कोई संघर्ष नहीं हुआ। वे शायद शान्तिप्रिय जातियां थीं। भरहुत, सांची, मथुरा आदि मे प्राप्त यक्षिणी मूर्त्तियों की गठन और बनावट देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये जातियां पहाड़ी थीं। हिमालय का प्रदेश ही गन्धर्व, यक्ष और अप्सराओं की निवासभूमि है। इनका समाज सम्भवतः उस स्तर पर था, जिसे आजकल के पंडित 'पुनालुअन सोसायटी' कहते हैं। शायद इससे भी अधिक आदिम। परन्तु वे नाच-गान मे कुशल थे। यक्ष तो धनी भी थे। वे लोग वानरों और भालुओ की भांति कृषिपूर्व-स्थिति में भी नहीं थे और राक्षसों और असुरों की भांति व्यापार-वाणिज्यवाली स्थिति में भी

नहीं। वे मणियों और रत्नों का संधान जानते थे, पृथ्वी के नीचे गड़ी हुई निधियों की जानकारी रखते थे और अनायास धनी हो जाते थे। सम्भवत: इसी कारण उनमें विलासिता की मात्रा अधिक थी। परवर्त्ती काल मे यह बहुत सुखी जाति मानी जाती थी। यक्ष और गन्धर्व एक ही श्रेणी के थे; परन्तु आर्थिक स्थिति दोनों की थोड़ी भिन्न थी। किस प्रकार कन्दर्प-देवता को अपनी गंधर्व सेना के साथ इन्द्र का मुसाहिब बनना पड़ा, यह मनोरंजक कथा है। पर यहां सब पुरानी बातें क्यों रटी जाय? प्रकृत यह है कि बहुत पुराने जमाने मे आर्य लोगों को अनेक जातियों से निबटना पड़ा था। जो गर्वीली थीं, हार मानने को प्रस्तुत नहीं थीं, परवर्त्ती साहित्य मे उनका स्मरण घृणा के साथ किया गया और जो सहज ही मित्र बन गईं, उनके प्रति अवज्ञा और उपेक्षा का भाव नहीं रहा। असुर, राक्षस, दानव और दैत्य पहली श्रेणी में तथा यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध, विद्याधर, वानर, भालु आदि दूसरी श्रेणी मे आते हैं। परवर्त्ती हिन्दू समाज इनमें सबको बड़ी अद्भुत शक्तियों का आश्रय मानता है, सबमे देवता-बुद्धि का पोषण करता है।

अशोक वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षो की देन है। प्राचीन साहित्य में इस वृक्ष की पूजा के उत्सवों का बड़ा सरस वर्णन मिलता है। असल पूजा अशोक की नहीं, बल्कि उसके अधिष्ठाता कन्दर्प-देवता की होती थी। इसे 'मदनोत्सव'कहते थे। महाराज भोज के 'सरस्वती-कण्ठाभरण' से जान पड़ता है कि यह उत्सव त्रयोदशी के दिन होता था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' मे इस उत्सव का बड़ा सरस-मनोहर वर्णन मिलता है। मैं जब अशोक के लाल स्तबकों को देखता हूँ तो मुझे वह पुराना वातावरण प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। राज-घरानों मे साधारणतः रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस रहस्यम वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं। कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को भी नियुक्त कर दिया करती थीं। कोमल हाथों में अशोक-पल्लवो का कोमलतर गुच्छ, आया, अलक्तक से रंजित

नूपुरमय चरणों के मृदु आघात से अशोक का पाद-देश आहत हुआ—नीचे हलकी रुनझुन और ऊपर लाल फूलों का उल्लास ! किसलयों और कुसुम-स्तबकों की मनोहर छाया के नीचे स्फटिक के आसन पर अपने प्रिय को बैठाकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन और पुष्प-संभार से पहले कन्दर्प-देवता की पूजा करती थीं और बाद में सुकुमार भंगिमा से पति के चरणों पर वसन्त पुष्पों की अंजलि बखेर देती थी। मैं सचमुच इस उत्सव को मादक मानता हूँ। अशोक के स्तबकों में वह मादकता आज भी है, पर कौन पूछता है ? इन फूलों के साथ क्या मामूली स्मृति जुड़ी हुई है ? भारतवर्ष का सुवर्ण-युग इस पुष्प के प्रत्येक दल में लहरा रहा है।

कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उसका स्वार्थ सधता है ! बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक से उसका स्वार्थ नहीं सधा। क्यों उसे वह याद रखती ? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।

अशोक का वृक्ष जितना भी मनोहर हो, जितना भी रहस्यमय हो, जितना भी अलंकारमय हो, परन्तु है वह उस विशाल सामन्त-सभ्यता की परिष्कृत रुचि का प्रतीक, जो साधारण प्रजा के परिश्रमों पर पली थी, उसके रक्त के स-सार कणों को खाकर बड़ी हुई थी और लाखों-करोड़ों की उपेक्षा के समृद्ध हुई थी। वे सामन्त उखड़ गए, साम्राज्य ढह गए और मदनोत्सव की धूमधाम भी मिट गई। सन्तान कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा—पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली-दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी। दुनिया अपने रास्ते चली गई, अशोक पीछे छूट गया !

मुझे मानवजाति की दुर्दम निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन-शक्ति बड़ी निर्मित है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती

वह जीवन-धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का आज जो रूप है, वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात-की-बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित-अनाहत धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है। सभ्यता और संस्कृति का मोह क्षण-भर बाधा उपस्थित करता है, धर्माचार का संस्कार थोड़ी देर तक इस धारा से टक्कर लेता है,पर इस दुर्दम धारा में सब कुछ बह जाते हैं। जितना कुछ इस जीवन-शक्ति को समर्थ बनाता है, उतना उसका अंग बन जाता है, बाकी फेंक दिया जाता है। धन्य हो महाकाल, तुमने कितनी बार मदन-देवता का खण्डन किया है, धर्मराज ने कारागार में क्रान्ति मचाई है, यमराज के निर्दय तारल्य को पी लिया है, विधाता के सर्वकर्तृत्व के अभिमान को चूर्ण किया है। आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर जो आसक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है, उसमें का कितना भाग तुम्हारे कुण्ठनृत्य से ध्वस्त हो जायगा,कौन जानता है? मनुष्य की जीवनधारा फिर भी अपनी मस्तानी चाल से चलती जायगी। आज अशोक के पुष्प-स्तबकों को देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय में उदासी की रेखा खेल उठेगी! जिन बातों को मैं अत्यन्त मूल्यवान समझ रहा हूँ और उनके प्रचार के लिए चिल्ला-चिल्लाकर गला सुखा रहा हूँ, उनमें कितनी जियेंगी और कितनी बह जायंगी, कौन जानता है! मैं क्या शौक से उदास हुआ हूं? माया काटे कटती नहीं। उस युग के साहित्य और शिल्प मन को मसले दे रहे हैं। अशोक के फूल ही नहीं, किसलय भी हृदय को कुरेद रहे हैं। कालिदास-जैसे कल्पकवि ने अशोक के पुष्पों को ही नहीं, किसलयों को भी मदमत्त करनेवाला बताया था—अवश्य ही शर्त यह थी कि

वह दयिता (प्रिया) के कानों में झूम रहा हो—'किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता-श्रवणार्पित:'—परन्तु शाखाओं में लम्बित वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है। मेरी नस-नस में आज करुण उल्लास की झंझा उत्थित हो रही है। सचमुच उदास हूँ।

आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटों और सामन्तों ने जिस आचार-निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई, धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महार्घ समझा था, वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों के अनुकरण पर जो रस-राशि उमड़ी थी, वह वाष्प की भांति उड़ गई, तो क्या यह मध्ययुग के कंकाल में खिला हुआ व्यावसायिक युग का कमल ऐसा ही बना रहेगा? महाकाल के प्रत्येक पदाघात से धरती धसकेगी। उनके कुंठ-नृत्य की प्रत्येक चारिका कुछ-न-कुछ लपेटकर ले जायगी। सब बदलेगा, सब विकृत होगा—सब नवीन बनेगा।

भगवान् बुद्ध ने मार-विजय के बाद वैरागियों की पलटन खड़ी की थी। असल में 'मार' मदन का ही नामान्तर है। कैसा मधुर और मोहक साहित्य उन्होंने दिया। पर न जाने कब यक्षों के वज्रपाणि नामक देवता इस वैराग्य-प्रवण धर्म में घुसे और बोधिसत्वों के शिरोमणि बन गए। फिर वज्रयान का अपूर्व धर्ममार्ग प्रचलित हुआ। त्रिरत्नों में मदन-देवता ने आसन पाया। वह एक अजीब आंधी थी। इसमें बौद्ध बह गए। उन दिनों 'श्रीसुन्दरीसाधनतत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव' की महिमा प्रतिष्ठित हुई। काव्य और शिल्प के मोहक अशोक ने अभिचार में सहायता दी। मैं अचरज से इस योग और भोग की मिलन-लीला को देख रहा हूँ। यह भी क्या जीवन-शक्ति का दुर्दम अभियान था! कौन बतायगा कि कितने विध्वंस के बाद इस अपूर्व धर्म-मत की सृष्टि हुई थी? अशोक-स्तबक का हर फूल और हर

दल इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये आ रहा है। कैसा झबरा-सा गुल्म है!

मगर उदास होना भी बेकार ही है। अशोक आज भी उसी मौज में है, जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहले था। कहीं भी तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है। बदली है मनुष्य की प्रवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। और यदि वह न बदलती और व्यावसायिक संघर्ष आरम्भ हो जाता—मशीन का रथ घर्घर चल पड़ता—विज्ञान का सवेग धावन चल निकलता तो बड़ा बुरा होता। हम पिस जाते। अच्छा हुआ जो वह बदल गई। पूरी कहां बदली है? पर बदल तो रही है। अशोक का फूल तो उसी मस्ती से हंस रहा है। पुराने चित्त से इसको देखनेवाला उदास होता है। वह अपने को पण्डित समझता है। पण्डिताई भी एक बोझ है—जितनी भी भारी होती है, उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्था में उदास भी नहीं करती। कहां, अशोक का कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है। कितनी मस्ती से झूम रहा है। कालिदास इसका रस ले सके थे अपने ढंग से। मैं भी ले सकता हूं, पर अपने ढंग से। उदास होना बेकार है!

अदूरदृष्टि : १४

अभयदेव

आजकल जिधर देखें लोग ऐनक लगाए दिखाई देते हैं। इसका अधिकतर कारण 'अदूरदृष्टि' (Short sight या Myopia) की बीमारी है। इस बीमारी मे मनुष्य को दूर की वस्तु नहीं दिखाई देती। भगवान् जाने यह बीमारी दुनिया में सदा से चली आती है या आजकल ही पैदा हुई है; परन्तु यह सच है कि इस समय तो इस बीमारी से ग्रस्त बहुत अधिक आदमी हैं। इस बीमारी मे ग्रस्त ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो बेचारे ग़रीब होने के कारण ऐनक आदि नहीं लगा सकते और इसलिए अपनी इस बीमारी का प्रमाण नहीं देते फिरते।

एक पश्चिमी विद्वान् के कथनानुसार हमारे पूर्वज 'असभ्य' लोग तो इतनी दूर तक देखनेवाले होते थे कि उन तारों और नक्षत्रों को, जिन्हें कि आज के 'सभ्य' लोग दूरबीनों से देख सकते हैं, अपनी नंगी आंखों से देखा करते थे और नक्षत्र-विद्या के सत्यों को जान लेते थे। इस दृष्टि से हम विचार करें तब तो आजकल हम सभी को जिन्हें ऐनक की ज़रूरत नहीं और जो अपनी आंखों को सर्वथा नीरोग समझते हैं, उनको भी 'अदूरदृष्टि' की बीमारी है।

जैसे कि दूर की वस्तु न दीखने की बीमारी होती है, वैसे ही बारीक सूक्ष्म वस्तु के पास से न दीखने की बीमारी होती है। इस

बीमारी के प्रतिकार के लिए भी वैसे ही लोग बहिर्गोल ताल (Convex lens) की ऐनकें लगाते हैं या क्षुद्रवीक्षण (खुर्दबीन) आदि का प्रयोग करते हैं।

× × ×

यह तो बाहरी आंखों की बात हुई; परंतु बाहरी आंखों की 'अदूरदृष्टि' का वर्णन करना मेरा विषय नहीं है। यदि बाहरी आंखें ही सब कुछ होतीं तो भक्त सूरदास, बिरजानंद स्वामी और मिल्टन आदि जैसे अंतःचक्षु पुरुष संसार में क्रांतिदर्शी न हो गुज़रते। और हम भी तो अंदर की आंखों से जितना काम लेते हैं, उतना बाहरी आंखों से नहीं लेते। हम अपना एक-एक काम, एक-एक चेष्टा अंदर की आंखों से देखकर करते हैं। अतः अन्दर की आंखों में इस बीमारी का होना जितना हानिकारक होता है और हो रहा है, उसका शतांश भी बाहरी आंखों में होने से नहीं। तो जिन बेचारों की अंदर की आंखें दूर तक नहीं देख सकतीं, उनकी दशा बड़ी ही दयनीय है और ऐसे अंदर से अदूरदर्शी लोगों की संख्या तो संसार में और भी अधिक है। सारा दुःखग्रस्त और रुदन करनेवाला संसार इसी अन्दर की अदूरदृष्टि से ग्रस्त है। दूर की बात नहीं दिखाई देती, इसलिए संसार में सब रोना-पीटना है। क्या कोई इस अदूरदृष्टि के लिए भी अञ्जन दे सकता है? ओ ऐनकें देनेवाले, बड़े साइनबोर्डवाले नामी डाक्टरो! क्या अंदर की आंख के लिए भी तुम्हारे पास कोई ऐनक है? उनसे यही कहने को जी चाहता है—"पहले अपनी दृष्टि ठीक कर लो, औरों के ऐनक और अञ्जन फिर लगाना।" अदूरदृष्टि कोई बाहरी आंखों में ही नहीं हुआ करती। यह तो बड़ी गहरी बीमारी है। मैं तो आज असली (अन्दर की) अदूरदृष्टि को इतना फैला हुआ देखकर घबराया हुआ हूं।

× × ×

जब मैं बालक था और चौथी श्रेणी में पढ़ता था तभी मैं ब्लैक-

बोर्ड पर लिखे हुए अक्षर नहीं पढ़ सकता था, क्योंकि मुझे बचपन से इतनी अधिक अदूरदृष्टि की बीमारी थी, किन्तु अपनी वह बाह्य बीमारी अब मुझे इतनी घोर नहीं मालूम होती जब कि मैंने अब यह जाना है कि मैं कामी इसलिए हूं, क्योंकि मुझे अदूरदृष्टि है; मैं क्रोधी इसलिए हूं, क्योंकि मैं अदूरदृष्टि से ग्रस्त हूं; मैं लोभी, घमण्डी और ईर्ष्यालु इसलिए हूं, क्योंकि मुझे दूर तक नहीं दिखलाई देता; मैं सब पाप इसलिए करता हूं, क्योंकि मुझे दूर तक दिखलाई नहीं देता। मैं संसार में बद्ध इसलिए हूं, क्योंकि मैं अदूरदर्शी हूं। अब यह भी समझ में आता है कि शास्त्रों ने एक स्वर से 'अदर्शन' या 'अविद्या' को सब रोगों का महारोग क्यों बतलाया है।

× × ×

नौजवानों को दूरस्थ आनेवाला बुढ़ापा नहीं दिखाई देता, इसलिए वे जवानीभर बुढ़ापा लानेवाले कर्मों में लिप्त रहते हैं और पीछे पछताते हैं।

हिन्दुस्तानियों को अपना देश नहीं दिखलाई देता। किन्हीं को देश दिखाई देता है तो उसका भविष्य नहीं दिखलाई देता। इसीलिए वे विदेशी वस्त्र पहनना या देश के लिए बलिदान करने से बचना आदि देश-विघातक कृत्यों को बड़े आराम और बेफ़िक्री से करते चले आते हैं।

अत्याचारी को अपनी आनेवाली मृत्यु नहीं दिखलाई देती, अतः वह उन्मत्त हो अत्याचार करता चला जाता है और किसीकी कुछ नहीं सुनता।

प्राणी को अपनी आत्मा नहीं दिखलाई देती, वह अमृत को अपने पास रखते हुए भी संसार के दुःखसागर में डुबकियाँ खाता जाता है।

इस प्रकार संसार के सभी दुःख और दुर्घटनाएं हम अपने ऊपर इसलिए ले आते हैं, क्योंकि हम दूर तक नहीं देख पाते। इसका क्या किया जाय? विषयों में मस्त पुरुष को अपने कर्मों का परिणाम

नहीं दिखाई देता। अदानी को दान देने में धन का सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग नहीं दिखाई देता। विद्यार्थी को पढ़ाई में कुछ लाभ नहीं दिखलाई देता। भीरु को देश के लिए मरने में कुछ आनंद नहीं दिखलाई देता। आलसी को दूरस्थ परिश्रम का मधुर फल नहीं दिखाई देता। अन्धे को रूप नहीं दिखलाई देता। इसका क्या किया जाय? इसमें इनका क्या दोष? यह सब तो केवल दृष्टि का दोष है।

× × ×

जिसको जहां तक दिखाई देता है, वह उसीके अनुसार और उसी सीमा तक शुभ कार्य कर सकता है, अधिक नहीं। और अंत में जिन्हें सब संसार का सब तत्त्व दृष्टिगोचर हो रहा है, वे ही संसार का सब आनंद लूटे जा रहे हैं।

जिन भारतवासियों को स्वदेश दिखलाई देता है, वे दासता की बेड़ियों को तोड़ने के लिए व्याकुल हो उठ खड़े होते हैं और अनायास बड़ी-बड़ी तपस्या कर उतना ही पुण्यार्जन करते हैं। जिन्हें अपने सूक्ष्म-सूक्ष्म दोष भी दीखते हैं, वे वेग से दिनोंदिन ऊपर चढ़ते जाते हैं। जिन्हें 'धर्म' या 'आत्मा' दिखलाई देता है, वे सुगमता से मुमुक्षु के पद को प्राप्त कर जाते हैं। महाबली षड्रिपु भी दृष्टिवाले सुजाखे के सामने नहीं ठहर सकते। भला जिसे व्यापक सुख दिखलाई दे रहा है, उसमें 'काम' कैसे पैदा होगा? जिसे संसार को हिलानेवाला बल सर्वत्र दिखाई देता है, उसे क्रोध क्यों सतायगा? जिसे संसार का परम ऐश्वर्य अनुभव होता है, वह लोभ किस वस्तु का करेगा? इसी प्रकार जिसे संसार-व्यापक प्रेम, संसार-व्यापक ज्ञान और संसार-व्यापक आत्मा (अपनापन) दिखाई देता है, उसमें मोह, मद और मत्सर नहीं पैदा होते। यदि इस तरह दृष्टि सब संसार को देखने लगे तो सब भय दूर हो जाते हैं, सब झगड़े मिट जाते हैं।

पर इतनी दूरदृष्टि, इतनी दिव्यदृष्टि प्राप्त कैसे हो? अरे, कोई सच्चा हकीम (वैद्य) नेत्रांजन दे दे कि जो सब संसार, सब लोक-

लोकांतर (जो कि तारे-नक्षत्र दीखते हैं) साफ़-साफ़ दिखने लगे, अनुभव होने लगे। कोई (अपना मुंह खोलकर) हमारी आंखों को दिखला दे कि भविष्य में क्या छुआ पड़ा है। आहा, आंखें खुल जायं। आंखों का परदा हट जाय! दृष्टि की सर्वत्र गति हो जाय।

× × ×

फिर वह आंखों का अंजन कहां से मिलेगा? बिना सद्गुरु के अंतः चक्षुओं को और कौन खोल सकता है? यदि किसीको कोई मनुष्य-गुरु न मिले तो भी कुछ डर नहीं, क्योंकि अंत में जो परम गुरु हैं, वह तो एक-एक मनुष्य को प्राप्त हुए हैं और जब चाहें मिल सकते हैं। परन्तु क्या बुद्ध, शंकर, दयानन्द, गांधी या किन्हीं अन्य गुरु ने तुम्हारी आंखों में कुछ उजाला किया है? यदि किसीने भी किया तो केवल अब श्रद्धा से उसके पास बैठना (उपासना करना) ही शेष रहा है। उनसे मिला हुआ ज्ञानांजन दिनोंदिन हमारी आंखों में इस तरह ज्योति विकसित करता जायगा कि हम भी आंखें खुल जाने पर कभी कृतज्ञता-भरे भाव में गद्गद् हो हृदय-ध्वनि से गुरु का स्मरण कर सकेंगे कि—

आचरणसुधामय्या ज्ञानांजनशलाकया,
चक्षुष्युन्मीलिते येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।

परन्तु यह सब श्रद्धा से ही साध्य है। श्रद्धा के बल से तो शिष्य गुरु के ही नेत्रों से देख सकता है और इस प्रकार कभी इन पवित्र उप-नेत्रों से मार्ग देखते और फिर नये ज्ञानांजन-सेवन से अपने नेत्रों को ज्योतिर्मय करते-करते ही पूर्णदृष्टि प्राप्त हो जाती है। इसलिए श्रद्धा उपासनीया है। यदि सद्गुरु दीख गया है तो फिर अपने सम्पूर्ण आपे को उसे सौंप दो, बस फिर बेड़ा पार है, यही श्रद्धा का मतलब है। श्रद्धा से तो गुरु शिष्य के क्रीत (खरीदे हुए) हो जाते हैं। श्रद्धा से ही भगवान् भक्तों के अधीन हैं। यह केवल कहने की बात नहीं है। यह सच है। श्रद्धा को ही आंख खोलनेवाला कहना चाहिए। जिस बिचारे

में श्रद्धा नहीं, उसे तो कोई गुरु ही नहीं मिलते और उसके अन्दर हृदय में ही बैठे 'पूर्वेषामपि गुरु' भगवान् भी उससे बहुत दूर हैं। इसलिए मैं कहता हूँ कि श्रद्धा ही आंख खोलनेवाली है।

पर श्रद्धा आंख मींचने से होती है। बाहरी आंखें मींचने से अन्दर की आंख खुलती है। अच्छा होता कि हम अन्धे होते। तब सम्भवतः हम श्रद्धा की ही शरण लेते। अब भी तो हमें आंख मींच के जान-बूझ कर अन्धा बनना पड़ता है। सब खराबी यही है कि हम न तो पूरे अंधे हैं और न हमें पूरा दिखलाई देता है, किन्तु हमें थोड़ा-थोड़ा ही दीखता है। जवानी की उम्र इसलिए बड़ी खतरनाक है। जवानी में जब बन्द आंख खुलने लगती हैं तो वह बालकपन की अपनी सहज श्रद्धा को छोड़ देता है और समझने लगता है कि मुझे सब कुछ दीखता है, अब मुझे माता, पिता व गुरु की क्या जरूरत! पर असल में उसे बहुत थोड़ी दूर तक दीखता है। यह 'अदूरदृष्टि' की बीमारी जवानी में ही हुआ करती है। डाक्टर भी इसमें साक्षी हैं। बुढ़ापे में तो आंखों की दशा उलटी हो जाती है, तब दूर की चीजें दीखती हैं और पास की नहीं दीखतीं। बुड्ढे लोग चिट्ठी को दूर रखके पढ़ते हैं, परलोक की या दूर पुराने जमाने की बातें करते रहते हैं। उन्हें पास की चीजें कम दिखाई देती हैं। ये बुड्ढे जवानों को कोसते हैं और जवान (दूसरी तरह की आंखों की बीमारी से ग्रस्त हुए) इन बुड्ढों पर हंसते हैं। पर ये ही जवान जब बुड्ढे होते हैं तो उस समय के जवानों को समझाने लगते हैं और वे जवान भी इनकी जवानी की दशा की तरह ही इनकी बातें नहीं समझते। इसी तरह यह आंखों की बीमारी का मारा हुआ अंधा संसार लुढक रहा है। इसमें बिरले ही ठीक दृष्टिवाले हैं। इसलिए धन्य हैं वे जवान, जिन्हें जवानी में अदूरदृष्टि की बीमारी नहीं होती; क्योंकि बुढ़ापे में भी उनकी स्वस्थ दृष्टि ठीक तर्क करने योग्य बनी रहती है। ऐसी स्वस्थ दृष्टिवाले वृद्ध पुरुष ही संसार के सच्चे नेता होते हैं। और तो केवल अपने साथ औरों को भी भटकाते रहते

हैं। सच्चे नेता का लक्षण यही है कि जिसे अपनी जवानी में 'अदूर-दृष्टि' की बीमारी नहीं लगी, जिसने जवानी में शिष्यत्व और श्रद्धा को नहीं छोड़ा। वृद्ध पुरुष सच्चा नेता है। वही गुरु है। वही स्वस्थ दृष्टि वाला संसार को ठीक रास्ता दिखला सकता है।

संसार के सब महापुरुष दूर तक देखनेवाले हुए हैं। उनकी दूर तक देखने की शक्ति ने ही उन्हें स्वभावतः 'महान्' बनाया है। जो भविष्य को दूर तक देख सकते हैं, वे इतने बड़े व्यापक कर्म करते हैं कि उतने भविष्य को वे अपने कर्म से व्याप्त कर लेते हैं, अतः वे उतनी दूर तक जीवित बने रहते हैं। बुद्ध भगवान् आज भी जिन्दा हैं, त्रेता-द्वापर के राम और कृष्ण आज भी जिन्दा हैं, इसलिए क्योंकि इन्होंने दूर तक देखा था और उसे कर्म से व्याप लिया था। ये लोग और न जानें कब तक जीवित रहेंगे। इतना कहा जा सकता है कि ये वहां तक जीवित बने रहेंगे जहां तक कि इन्होंने दृष्टिप्रसार किया था।

इसके विपरीत हम जैसे जो साधारण लोग हैं, वे अपने आसपास के वर्तमान को ही देख सकते हैं (भविष्य दूर तक नहीं देख सकते, अतएव मुंह फेरकर भूत पर भी दूर तक निगाह नहीं दौड़ा सकते), वे जैसे-तैसे अपने उस वर्तमान में ही जिन्दा रहते हैं और आनेवाला भविष्य उन्हें मार जाता है। इस तरह काल सब संसार को खाता जा रहा है। इसमें वे ही बचते हैं जिनकी दृष्टि दूर तक जाती है। यह ठीक है कि भविष्य के देखनेवालों को वर्तमानकाल अपनी तरफ से बड़ा कष्ट पहुंचाता है, परन्तु वह मुमूर्षु वर्तमान उन तपस्वियों का क्या बिगाड़ सकता है? वह तो थोड़ी देर में स्वयं ही अपनी मौत मर जाता है। और यद्यपि वर्तमान को ही देखनेवाले आम लोग वर्तमान में बड़े आनन्द से रहते दीखते हैं, तथापि आनेवाला कल उन भीरुओं को मार जाता है, वर्तमान के साथ वे भी समाप्त हो जाते हैं। इसलिए दूर तक देखना चाहिए, जितनी दूर तक हो सके उतनी दूर तक देखना चाहिए। सूक्ष्मता में भी दूर तक देखना चाहिए। काल यही कहता चला

आ रहा है कि दूरद्रष्टा बनो। हे भारतवासियो ! दूरद्रष्टा बनो, नहीं तो खाये जाओगे। हे मनुष्यो ! हे समाजो और संघो ! हे राष्ट्रो ! अपने लक्ष्य को ऊंचा कर उतनी दूर तक देखो, अपने कार्यक्रम दूर तक देखकर बनाओ। दृष्टि को विशाल करो। यही संसार में जीने की शर्त है। अमर होने का मार्ग यही है। जो जितनी दूर तक देखेंगे, वह उतनी देर तक जीयेंगे।

द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्।

खुद से : १५

वियोगी हरि

और अब कुछ अपनी भी तो कह डाल। तू खुद किसीसे किस बात मे कम है? सबकी स्तुति की है तो ज़रा अपनी भी कर ले। आत्म-स्तुति को तू कुछ बुरा तो समझता नहीं।

जिन बहुत-से गुणों को निर्दयतापूर्वक ग़लती से 'लोक-निन्दित' ठहरा दिया गया है, उन्हें भी तेरे साधु हृदय ने प्रीतिपूर्वक अंगीकार कर लिया है, तेरी इस सहृदयता और दयालुता की कौन स्तुति नहीं करेगा?

तेरे अंतर मे असंतोष की जो आग सुलग रही है, उस पर हमेशा तू उपेक्षा का पानी डालता रहता है। विचारों का केवल धुआं ही उठता है और उस धुएं को तू बड़ी होशियारी से वातावरण में इधर-उधर उड़ा देता है।

उस आग से तेरा अंतर कहीं जल न जाय, इस बात का तुझे बड़ा ध्यान रहता है और इसीलिए अपनी खुद की व्याख्यावाली शांति तुझे बड़ी प्रिय है।

लोग मन में कहते होंगे, तुझे निवृत्ति-पथ पसन्द है और तू खुद भी कभी-कभी ऐसा ही कहता है। पर तेरी विनय का कुछ पार! तू कितनी ही लोक-निन्दित प्रवृत्तियों पर आसक्त है, फिर भी इतना

अधिक विनयशील है कि अपने उस महान् गुण को कभी किसी पर प्रकट नहीं करता।

तू किसीका जी नहीं दुखाना चाहता, तभी तो जिन चीज़ों में तेरा ज़रा भी विश्वास नहीं, उन पर भी तू दूसरों के प्रीत्यर्थ श्रद्धा-भाव दिखला दिया करता है !

तू सचमुच आत्म-त्यागी है। जिन लोगों से तेरा हार्दिक मतभेद होता है, उन्हें भी प्रसन्न रखने के लिए अपनी आत्मा की आवाज़ पर तू कोई ध्यान नहीं देता। अपरिचित मतों के पीछे भी तू पैर घसीटता रहता है।

जब अंतरात्मा तेरी कटु आलोचना करती है तब तू उस पर कान नहीं देता, क्योंकि तूने अपनी श्रवणेन्द्रिय को कम-से कम उस अवसर के लिए जीत लिया है।

परनिन्दा का स्वाद कटु कहा गया है, पर तू तो अस्वादव्रती ठहरा न ? इसलिए रस तुझे उस कड़वाहट में भी आता है।

तू चूंकि आत्म-साधक है, आत्मोपासक है, इसलिए आत्मनिंदा सुनकर तुझे क्रोध आ जाय तो इसमें ऐसा क्या अनुचित हुआ ?

तेरी गुणग्राहकता से भला कौन इन्कार कर सकता है ? जब तू अपना स्तुति-पाठ सुनता है तब ऐसा प्रकट करता है, मानो संकोच के मारे गड़ा जा रहा है; पर अंदर-अंदर तू पुलकित और गद्गद् हो जाता है।

तू कितना बड़ा अहिंसक है, जो तिरस्कार-पात्र गुणों को भी तूने अपने हृदय में प्रेम का स्थान दे रखा है ! यह तेरी पवित्र सादगी ही है कि लोक-दृष्टि से छिपाकर अपने जीवन की हज़ार छेदवाली चादर को ओढ़े हुए बाज़ार में बैठा है।

अपनी इस चतुराई पर तू अपने-आप मुग्ध है कि अपनी हजार छेदवाली चादर का पता नहीं लगने देता। लोग तेरी मैली चादर को धौली समझ रहे हैं। तुझे अपरिग्रह पर प्रवचन देना बहुत प्रिय है, यद्यपि

तू अपने पास तीन-तीन, चार-चार कुरते, तीन-तीन धोतियां और और भी ढेरों सामान रखता है; क्योंकि अपनी आवश्यकताओं की मर्यादा तूने ऐसी बना रखी है, जो तेरी दृष्टि में परिग्रह का स्पर्श तक नहीं करती।

जब तेरे करुणार्द्र हृदय में दो बूंद दूध के लिए कलपते अस्थि-पंजर बच्चों का ध्यान आ जाता है तो तेरे सेवापूत आंसू तेरी दूध की प्याली में टपक पड़ते हैं। पर अपनी करुणाशीलता बनाये रखने के लिए तुझे वह खारा दूध भी अनासक्ति के साथ रोज पीना ही पड़ता है।

तू दूसरों के लिए कष्ट उठाना खूब जानता है। दूसरों की टीका करने में कितना ही कष्ट उठाना पड़े, स्वधर्म समझकर उसमे तू क्लेश नहीं मानता। तेरा कोमल हृदय नहीं चाहता कि दूसरे तेरी टीका करने का कष्ट उठाएं।

प्रयत्नशीलता में तेरा अटूट विश्वास है। अपने संकल्पों के धागे को तू रोज तोड़ता है और रोज उसे बराबर जोड़ने का प्रयत्न करता है।

अद्भुत है रे, तेरी जीवन-यात्रा! तू जाना तो चाहता है उत्तर दिशा को और कदम रखता है दक्षिण दिशा की ओर! तूने नरक-पथ को हमेशा स्वर्ग-पथ माना है। दूसरों की संग्रह-वृत्ति को देखकर तेरे हृदय में आग-सी जलती है कि वे संयमी और वैराग्यशील क्यों नहीं हैं। इस आग को तू यज्ञ की अग्नि मानता है। पर तेरे सामने संग्रह का शीतल साधन आ जाय और वह तेरी अंतर्ज्वाला को बुझा दे तो तुझे उससे असन्तोष नहीं होगा।

तू अपने विचारों में कभी स्थिरता या जड़ता नहीं आने देना चाहता, इसीलिए तेरे विचार सदा पारे की तरह कम्पित या अस्थिर रहते हैं।

त्याग में तू वही स्वाद पाता है, जो कि मनुष्य को मिर्च में मिलता

है। तेरी समझ में नहीं आता कि मुमुक्षुओं ने त्याग को मधुर स्वाद-वाला आखिर क्यों कहा था! त्याग द्वारा तामसी वृत्ति को उत्तेजित करके तूने कोई कम धर्म-साधना नहीं की।

यह तेरा गज़ब का साहस ही है कि गांठ में अनुभवों और विचारों की कुछ भी पूंजी नहीं, फिर भी बोलने और लिखने के व्यापार में तू खूब दूर तक जाना चाहता है।

लोग जब कहते हैं कि तेरा जीवन-रस लोक-सेवा में खर्च हो रहा है तो वास्तविकता को जानते हुए भी उनकी बात को तू काटता नहीं; क्योंकि तेरी दृष्टि में ऐसा करना अविनय है; बल्कि हिंसा है।

लेकिन जहां तू आत्म-निन्दा सुनता है, वहां उसका काटना तेरा धर्म हो जाता है। वह शुद्ध अहिंसा है। धर्म का तत्त्व बड़ा गहन है और उसकी गहनता को तूने समझ लिया है।

तू उस पुराने सूत्र को नहीं मानता कि त्याग का परिणाम संतोष है। तू तो त्याग का शीतल पान करते समय ईर्ष्या की आग को अपने अन्तर में प्रज्ज्वलित कर लेता है।

दूसरों के कितने ही नये-पुराने विचारों और शोधों को तू इतना ज्यादा प्यार करता है कि उन पर अपने नाम की छाप लगा देता है—वे उनके न रहकर तेरे अपने हो जाते हैं।

उदार तू इतना अधिक है कि छोटी चीजों को बड़ी-से-बड़ी समझ लेता है, पर अपने तईं तक ही तूने इस उदारता को सीमित रखना धर्म समझा है।

जैसे, तू साधारण ही पठित है, ज्ञान तेरा नगण्य-सा है, अनुभव का भी अभाव ही है, फिर भी तू अपने में कोई हीनता नहीं देखता। ब्रह्मवादी की भांति तू अपने आपको समस्त विद्या, ज्ञान और अनुभव का मूल स्रोत समझता है।

जब किसी प्रश्न का कोई ठीक-ठीक जवाब नहीं सूझता तब तू गम्भीर-सी मुद्रा बना लेता है—प्रश्नकर्ता समझ बैठता है कि तू

किसी गहरे चिन्तन में डूबा हुआ है, और तेरा काम बन जाता है।

जब तू एक वर्ग या समूह की टीका करता है तब इतना तो तुझे मालूम रहता ही है कि उस वर्ग में भी कुछ ऐसे हैं, जो तेरी टीका से परे हैं। फिर भी तेरी लपेट में अपवादरूप अल्पसंख्यक भी आ जाते हैं।

पर तू खुद अल्पसंख्यकों में है या बहुसंख्यकों में? तू बड़ी चतुराई से कभी उनमें मिल जाता है, कभी इनमें।

तूने जिनकी भी टीका की, प्रायः प्राचीनों को सब जगह बख्श दिया है; पर तुझ-जैसे तो जैसे अब हैं, तैसे ही तब भी थे, इस बात को क्या तू नहीं जानता?

जानता हो या न जानता हो, अब ज्यादा मत बोल। जिन-जिनके प्रति गुस्ताखी प्रकट की है, उन सबसे अब तू प्रेमपूर्वक बिदा ले।

लेखक-परिचय

१. महात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी

जन्म : २ अक्तूबर १८६६ : पोरबन्दर-गुजरात। शिक्षा : भावनगर, राजकोट, लन्दन। बैरिस्टर। सन् १८९३ से १९१४ तक दक्षिण अफ्रीका में रहे और वहाँ प्रवासी भारतीयों की स्थिति में सुधार करने के लिए सत्याग्रह किया। सन् १९१४ से ३० जनवरी १९४८ तक भारत में स्वातंत्र्य-युद्ध, हरिजन-आन्दोलन आदि का सफल नेतृत्व किया। ३० जनवरी १९४८ की संध्या को हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न करते हुए शहीद हुए। सत्याग्रह के जन्मदाता, सत्य-अहिंसा के व्यावहारिक व्याख्याता, उच्च कोटि के विचारक, साधक, अंग्रेजी और गुजराती के उत्कृष्ट लेखक। सम्पादक : इण्डियन ओपीनियन, (अफ्रीका), यंग इण्डिया और हरिजन (अंग्रेजी); नवजीवन और हरिजन सेवक (हिन्दी) तथा हरिजन बन्धु (गुजराती)। अनेक गुजराती और हिन्दी साहित्य सभाओं के सभापति। ग्रन्थ : आत्मकथा, दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह, हिन्द स्वराज्य तथा असंख्य लेख-संग्रह। प्रस्तुत लेख गुजराती से अनुवादित और 'मंगलप्रभात' से संग्रहीत किया गया है।

२. आचार्य विनोबा भावे

जन्म : ११ सितम्बर १८९५ : गागोरा-महाराष्ट्र। शिक्षा : गागोरा, बड़ौदा और काशी। सन् १९१६ में कालेज छोड़ा। संस्कृत के विद्वान् और लेटिन, फ्रेंच, अरबी आदि १६ भाषाओं के ज्ञाता। गणित प्रिय विषय रहा है। मौलिक विचारक और व्याख्याता। उच्च कोटि के साधक और लेखक। बाल्यकाल से लिखने का शौक रहा है, परन्तु प्रारम्भिक लेख गंगा को अर्पण कर चुके हैं। १९१६ से गांधीजी के साथ रहे। अनेक बार सत्याग्रह किया और जेल गये। १९४० में युद्ध-विरोधी सत्याग्रह में ये पहले सत्याग्रही चुने गये थे। आजकल वर्धा के पास पवनार में रहते हैं। 'बापू के बाद आप ही ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी मेधा प्रतिक्षण विकसित होती रहती है।' 'सर्वोदय' के सम्पादक तथा गीता-प्रवचन, विनोबा के विचार, विचार-पोथी, स्थित-प्रज्ञ दर्शन, ईशावास्यवृत्ति आदि ग्रन्थों के लेखक। प्रस्तुत निबन्ध मराठी से अनुवाद किया गया है।

३. पं० जवाहरलाल नेहरू

जन्म : १४ नवम्बर १८८९ : इलाहाबाद । शिक्षा : हैरो, कैम्ब्रिज, लन्दन । बैरिस्टर । १९१८ से कांग्रेस में हैं । अनेक वर्षों तक उसके मंत्री और सभापति रहे । स्वतंत्रता-संग्राम के चतुर सेनानी, पर साथ ही एक भावनाशील साहित्यिक । अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त उच्च कोटि के लेखक और विचारक । इतिहास प्रिय विषय है और दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय है । नौ बार जेल गये हैं और अधिकांश ग्रन्थ वहीं लिखे हैं । अधिकतर अंग्रेजी में लिखा है, पर यह लेख हिन्दी में लिखा था । १९४६ में बनी अस्थायी सरकार के नेता थे । १५ अगस्त १९४७ से स्वतंत्र भारत के प्रधान और विदेश-मंत्री हैं । प्रसिद्ध ग्रन्थ : मेरी कहानी, विश्व इतिहास की झलक, हिन्दुस्तान की कहानी आदि ।

४. डा० राजेन्द्रप्रसाद

जन्म : ३ दिसम्बर १८८४ : जीरादेई, सारन, बिहार । शिक्षा : जीरादेई, हथुआ, छपरा, पटना और कलकत्ता । मेधावी छात्र सदा प्रथम रहे । अध्यापक और वकील । १९१७ में चम्पारन सत्याग्रह में गान्धीजी से सम्पर्क हुआ । १९२१ में वकालत छोड़ दी और कांग्रेस में आ गये । कई बार उसके सभापति रहे । राजनीति, साहित्य, शिक्षा, समाजसेवा सभी क्षेत्रों मे एकसमान रुचि । गान्धी-नीति के सर्वोत्तम प्रतीक, साधुस्वभाव, एक साथ महान् और अच्छे आदमी । कांग्रेस के सेनानी, स्वतन्त्र भारत की सरकार के खाद्य-मंत्री, विधान-सभा के अध्यक्ष और अब भारत जनतंत्र के राष्ट्रपति । प्रसिद्ध ग्रंथ : खंडितभारत, चम्पारन सत्याग्रह, आत्मकथा, बापू के कदमों में । प्रस्तुत निबन्ध 'आत्मकथा' का एक अंश है ।

५. आचार्य दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

जन्म : सन् १८८५ : सतारा-महाराष्ट्र । शिक्षा : बम्बई विश्वविद्यालय । प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और लेखक । घूमने के शौकीन, परिव्राजक और जीते-जागते विश्वकोष हैं । गान्धीजी के सम्पर्क में रहे हैं और उनकी नीति के आचार्य माने जाते हैं । नवजीवन, हरिजन, राष्ट्रभाषा, सर्वोदय आदि अनेक पत्रों का सम्पादन किया है । जन्म से मराठी भाषाभाषी होने पर भी गुजराती भाषा के उच्चकोटि के साहित्यिक हैं । राष्ट्रभाषा के प्रबल प्रचारक हैं । प्रिय विषय : शिक्षा, साहित्य और ज्योतिष । प्रसिद्ध ग्रन्थ : हिमालययात्रा, जीवन-साहित्य,

जीवन का काव्य, आत्मकथा, लोकजीवन तथा गुजराती-मराठी की अनेक पुस्तकें। प्रस्तुत निबन्ध 'हिमालय यात्रा' से लिया गया है, जो मूल गुजराती में लिखी गई थी।

६. *श्री घनश्यामदास बिड़ला*

जन्म : सन् १८६१ : जयपुर राज्य। भारत के सुप्रसिद्ध व्यापारी। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में सक्रिय भाग लेते रहे हैं। धारासभा के सदस्य रहे हैं और अखिल भारतीय हरिजन-सेवक-संघ के प्रधान भी। गान्धी-जी के निकट सम्पर्क में रहे हैं और उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हैं। साहित्य-प्रेमी और सुलेखक हैं। आर्थिक प्रश्नों के अतिरिक्त दार्शनिक विषयों में भी रुचि है। अनेक पुस्तकें लिखी हैं। बापू, डायरी के पन्ने, रुपये की कहानी, कर्ज से साहूकार, जमनालालजी, बिखरे विचार, रूप और स्वरूप उनमें से कुछ हैं।

७. *भदन्त आनन्द कौसल्यायन*

जन्म : सन् १६०५ : अम्बाला, पंजाब। शिक्षा : पंजाब विश्व-विद्यालय। ५ फरवरी १६२८ को प्रव्रज्या हुई और तब से भिक्षु आनन्द कौसल्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुए। यात्रा के प्रेमी हैं और पूर्व-पश्चिम के अनेक देशों में घूम चुके हैं। अनेक बौद्ध ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया है, जिनमें जातक कथाएं विशेष प्रसिद्ध हैं। राष्ट्रभाषा के अनन्य प्रचारक और राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा के मंत्री हैं। हिन्दी के इने-गिने संस्मरणात्मक निबन्ध-लेखकों में से हैं। व्यंग आपके साहित्य की विशेषता है। ग्रंथ : बुद्धवचन, भिक्षु के पत्र, जातक, दो भाग, जो न भूल सका आदि।

८. *श्री सियारामशरण गुप्त*

जन्म : सन् १८६५। निवासस्थान : चिरगाँव-झाँसी। हिन्दी के ख्यातनामा कवि, उपन्यासकार और कहानी-लेखक। इनके छोटे निबन्धों में गहराई के अतिरिक्त आत्मीयता और सरलता है। ये मौन साधक और विशुद्ध साहित्यिक हैं। कई भाषाएं जानते हैं। गान्धी-वाद से प्रभावित मानवतावादी हैं। इनके अनेक ग्रंथों में नारी (उपन्यास), झूठसच (निबन्ध), मानुषी (कहानी-संग्रह), पुण्य-पर्व (नाटक), आर्द्रा, पाथेय, मृगमयी, बापू, उन्मुक्त, गीता, नोआ-खली (काव्य) विशेष प्रसिद्ध हैं। यद्यपि ये दमे के रोगी हैं तो भी साहित्य-सृजन का काम निरन्तर चलता रहता है।

९. *श्री हरिभाऊ उपाध्याय*

जन्म : सन् १८९२ : भौंरासा-उज्जैन। शिक्षा : भौंरासा व काशी। प्रारम्भ मे अध्यापक रहे हैं। साहित्य-सेवा का शौक बाल्यकाल से है। अंग्रेजी, गुजराती, मराठी और उर्दू भाषा जानते हैं। गांधीवाद के सुलझे हुए विचारक और राष्ट्रीयता के पुजारी हैं। हिन्दी नवजीवन में गांधीजी के सहायक रहे हैं। अनुवादक के रूप में प्रसिद्ध हैं, पर आपके मौलिक ग्रंथ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सम्पादक : औदुम्बर, नव-जीवन, मालवमयूर, राजस्थान, त्याग-भूमि और जीवन-साहित्य। आपके अनुवादित ग्रंथों में पं० नेहरू और महात्माजी की आत्म-कथाएं तथा मौलिक ग्रंथों में स्वतन्त्रता की ओर, युगधर्म, साधना के पथ पर, स्वगत, मनन, पुण्य-स्मरण उल्लेखनीय हैं।

१०. *श्रीमती महादेवी वर्मा*

जन्म : १९०७ : फर्रुखाबाद-उत्तर प्रदेश। लेखनकाल : १९२५। हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध छायावादी कवयित्री। कविता के साथ निबन्ध, विशेषकर संस्मरणात्मक निबन्ध, लिखने में आपको अपूर्व सफलता मिली है। आप कुशल चित्रकर्त्री भी है। महिला विद्यापीठ प्रयाग की प्रिंसिपल हैं। आपको अनेक पारितोषक मिले हैं। आजकल आप साहित्यकार-संसद को चला रही हैं। 'चांद' का सम्पादन कर चुकी है। आपके ग्रंथों मे नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत, दीपशिखा और यामा (काव्य) तथा अतीत के चलचित्र (निबन्ध) विशेष प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त आपके अनेक सम्पादित ग्रंथ हैं।

११. *श्री जैनेन्द्र कुमार*

जन्म : १९०५। शिक्षा : हस्तिनापुर, काशी। लेखन काल : १९२९। सुप्रसिद्ध उपन्यासकार तथा कहानी व निबन्ध-लेखक। गान्धीवाद से प्रभावित एक स्वतन्त्र तथा मौलिक विचारक। आपकी रचनाओं का अनेक भाषाओं मे अनुवाद हो चुका है। कई पारितोषक मिले हैं। यूनेस्को के भारतीय उप-कमीशन के सदस्य हैं। सम्पादक : हंस, बनारस। ग्रंथ : परख, त्यागपत्र, सुनीता, कल्याणी, प्रस्तुत प्रश्न, जड़ की बात, एक रात, वातायन, फांसी, पाजेब, जयसन्धि आदि।

१२. *डा० वासुदेवशरण अग्रवाल*

जन्म : १९०४ : सुप्रसिद्ध इतिहास-मर्मज्ञ तथा संस्कृति और

पुरातत्त्व के विशेषज्ञ। सुन्दर निबन्ध-लेखक। हिन्दी में जनपद-आन्दोलन के एक नेता। अनेक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक ग्रंथों का सम्पादन किया है। भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के एक अधिकारी हैं। आजकल सेन्ट्रल म्यूजियम, दिल्ली के सुपरिन्टेन्डेन्ट हैं। ग्रंथ : उरु ज्योति, पृथ्वीपुत्र, कल्पवृक्ष आदि।

१३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

जन्म : १९०७ : ओझावालिया। शिक्षा : काशी। हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध आलोचक, अनेक ग्रंथों के अनुवादक तथा संस्कृत के पण्डित हैं। अनेक भाषाएं जानते हैं। भक्ति-साहित्य से विशेष प्रेम है। नक्षत्र विद्या में माहिर हैं। एक उपन्यास तथा अनेक सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। शान्तिनिकेतन में अध्यापक हैं तथा हिन्दी-भवन के डाइरेक्टर हैं। सम्पादक : विश्वभारती पत्रिका और अभिनवभारती ग्रंथमाला। महाभारत पर अनुसन्धान कर रहे हैं। ज्ञान के लिए इनमें अपूर्व भूख है। ग्रंथ : कबीर, हिन्दी साहित्य की भूमिका, बाणभट्ट की आत्मकथा, प्राचीन भारत का काव्य-विलास, सूरसाहित्य, अशोक के फूल आदि। अनेक साहित्यिक सभा-संस्थाओं के सभापति रहे हैं।

१४. आचार्य अभयदेव

हिन्दी-संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान। प्रारम्भ में आर्य-समाज से सक्रिय सम्बन्ध रहा है। गुरुकुल कांगडी के अध्यापक और मुख्याधिष्ठाता रहे हैं। पुराना नाम देवशर्मा 'अभय' है। गांधीजी के आश्रम में भी रहे हैं। आजकल अरविन्द-आश्रम पाण्डेचरी में साधक हैं। अनेक सुन्दर पुस्तक लिखी हैं। अलंकार, लाहौर तथा अरविन्द-आश्रम की त्रैमासिक पत्रिका 'अदिति' का सम्पादन किया किया है। ग्रंथ : वैदिक-विनय, तीन भाग, ब्राह्मण की गौ, तरंगित हृदय आदि।

१५. श्री वियोगीहरि

जन्म : सन् १८९३ : छतरपुर, बुन्देलखण्ड। शिक्षा : छतरपुर-पन्ना आदि। तीर्थयात्रा बहुत की है। असली नाम श्री हरिप्रसाद द्विवेदी है। गद्यगीतकार, कवि तथा समालोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं। कुछ साल पन्ना में रहे, प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सम्पर्क में आये। साहित्य की ओर आपकी रुचि बचपन

से रही है। १९३२ से आप गान्धीजी के सम्पर्क में आये और तब से हरिजन-सेवक-संघ का संचालन कर रहे हैं। आपने सम्मेलन पत्रिका तथा हरिजन सेवक आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया है। आपके अनेक ग्रंथों में मंगलाप्रसाद परितोषक-प्राप्त वीर सतसई, ब्रजमाधुरी सार, प्रेम योग, मेरा जीवन-प्रवाह, मेरी हिमाकत आदि विशेष प्रसिद्ध है। आप हिन्दी गद्य के निर्माताओं में से हैं। खड़ी बोली तथा ब्रज भाषा दोनों पर आपका एक-सा अधिकार है। व्यंग आपकी शैली का प्रमुख गुण है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं।